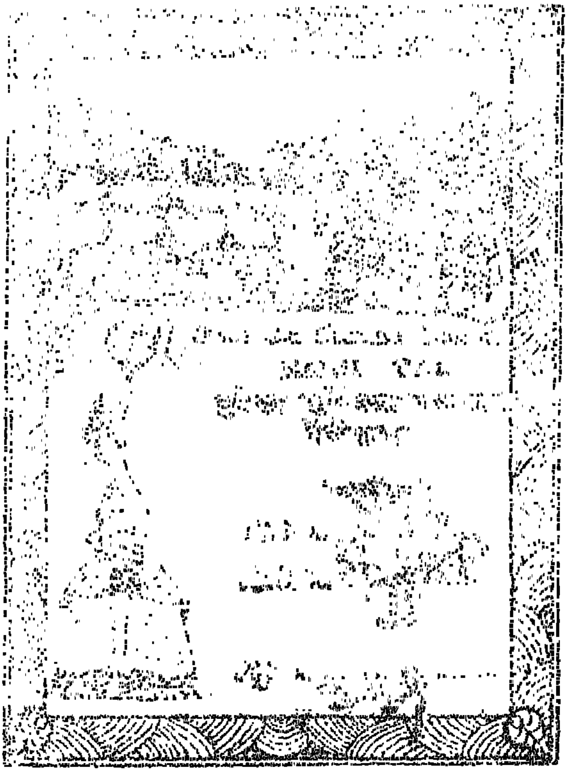


मि॰ रमेशचन्द्र दत्त

लिखित

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास

दूसरा भाग

बाबू श्यामसुन्दर दास जी द्वारा सम्पादित

तथा

बाबू गोपाल दास जी द्वारा

सरल हिन्दी में अनुवादित।

माधवप्रसाद

(पुस्तक कार्यालय, धर्मकूप, काशी)

द्वारा प्रकाशित।

मैनेजर पं० आत्माराम शर्म्मा द्वारा,

जार्ज प्रिंटिंग वर्क्स, कालभैरव काशी में मुद्रित।

द्वितीय बार १०००] १९२१ [मूल्य १॥)

अध्यायों की सूची।

दार्शनिक काल।

प्राचीन भारतवर्ष की

सभ्यता का इतिहास।

दूसरा भाग।

काण्ड ३

दार्शनिक काल, १००० ई०पूर्व से ३२० ई० पूर्व तक।

अध्याय १

इस काल का साहित्य।

तीसरे युग में हिन्दुओं के स्वभाव में अन्तर हो गया और इस अन्तर की झलक भारतवर्ष के सूत्रग्रन्थों में मिलती है। ऐतिहासिक काव्य काल में हिन्दुओं की अन्तिम दक्षिणी सीमा विन्ध्यपर्वत थी पर अब उन लोगों ने इस पर्वतश्रेणी को पार किया और वे मध्यभारतवर्ष के जंगलों में घुसे और उन्होंने गोदावरी और कृष्णा के तटों पर बड़े बड़े राज्य स्थापित किए जो कि समुद्रतट तक फैले हुए थे। पूरब में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हुआ और वहां से लोग बंगाल और उड़ीसा में जाकर बसे और पश्चिम में सौराष्ट्र का राज्य अरब के समुद्र तक फैल गया। हिन्दुओं के इस फैलाव का प्रभाव उनके स्वभाव पर भी पड़ा। वे अधिक साहसी हो गए और उनके विचार अधिक विस्तृत हो गए। प्राचीन समय से जो कुछ साहित्य यथाक्रम वंश परम्परा में रहा वह संक्षिप्त और प्रायोगिक रूप में लाया गया और विज्ञान के सब विभागों में उस साहस के साथ आविष्कार किए गए जो कि नए अन्वेषियों और विजेताओं में स्वाभाविक होता है।

इस समय के साहित्य ने जो रूप धारण किया था उसी से इस काल की प्रायोगिक वृत्ति प्रगट होती है कि सब विद्या, सब शास्त्र और सब धर्म्म सम्बन्धी ग्रन्थों को संक्षेप करके पुस्तकें बनाई गईं। जिस प्रकार से ब्राह्मणग्रन्थों में शब्दबाहुल्य प्रधान है, उसी तरह सूत्र-

ग्रन्थों में संक्षिप्त होना ही विशेष बात है। वास्तव में ग्रन्थकार लोग एक ओर की हद से दूसरी ओर की हद पर चले गये अर्थात् कहां तो उनके लेखों में इतना शब्दबाहुल्य होता था और कहां इतने संक्षिप्त सूत्रों में ही वे लिखने लगे। सूत्रों के विषय में यह कहावत बहुधा कही जाती है कि "ऋषियों को अर्द्धह्रस्व स्वर ही को कम कर देने में इतनी प्रसन्नता होती थी जितनी कि एक पुत्र के जन्म में होती है।"

इतने अधिक संक्षिप्त ग्रन्थों के बनने का एक प्रधान कारण यह था कि बालक विद्यार्थियों को बचपन में ये सूत्र रटाए जाते थे। आर्य बालक लोग आठ, दस वा बारह वर्ष की अवस्था में किसी गुरु को करते थे और बारह वर्ष अथवा इससे अधिक समय तक वे गुरु ही के यहां रहते थे। उनकी सेवा करते थे। उनके लिये भिक्षा मांगते थे और अपने पुरखाओं के धर्म्म को नित्य कण्ठाग्र करके सीखते थे। अतएव विस्तृत ब्राह्मणों के संक्षिप्त छोटे छोटे ग्रन्थ बनाए गए कि जिसमें वे सुगमता से पढ़ाए और कण्ठाग्र किए जा सकें। इस प्रकार से प्रत्येक सूत्रचरण अर्थात् प्रत्येक पाठशाला के जुदे जुदे सूत्रग्रन्थ तैयार हो गए। इन सूत्रों के बनानेवालों में से बहुतों के नाम हम लोगों को विदित हैं। जिस प्रकार वेद और ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वरकृत माने जाते हैं, उसी प्रकार सूत्रग्रन्थ नहीं कहे जाते वरन् ये मनुष्य के बनाए हुए स्वीकार किए जाते हैं। भारतवर्ष में जो ईश्वरकृत ग्रन्थ कहे जाते हैं उनकी समाप्ति उपनिषदों से होती है जो कि ब्राह्मणों के उत्तर काल के भाग हैं।

जब एक बेर सूत्र बने तो इस प्रणाली का प्रचार भारतवर्ष में बहुत शीघ्र फैल गया और सूत्रचरण बढ़ने लगे। चारणव्यूह में ऋग्वेद के ५ चरण, कृष्णयजुर्वेद के २७ चरण, शुक्लयजुर्वेद के १५, सामवेद के १२, और अथर्ववेद के ६ चरण लिखे हैं। प्रत्येक सूत्र-चरण के जुदे जुदे सूत्रग्रन्थ रहे होंगे और जिस चरण के जो अनु-यायी थे वे भारतवर्ष के चाहे किसी भाग में क्यों न रहते हों पर उसी चरण के सूत्र पढ़ते थे और उसे ही विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। इस प्रकार से धीरे धीरे भारतवर्ष में इन सूत्रग्रन्थों का एक बृहद् भण्डार हो गया। पर दुःख का विषय है कि इन बहुत से चरणों में जो बहुत से सूत्रग्रन्थ बने और पढ़ाए जाते थे उनमें से अब बहुत ही थोड़े हम लोगों को प्राप्त हैं। जो दशा ब्राह्मणग्रन्थों की है वही

सूत्रग्रन्थों की भी है कि प्राचीन संस्कृत भण्डार में से केवल गिनती के ग्रन्थ अब बच रहे हैं। अब हम शीघ्रता से उन शास्त्रों की आलोचना कर जायँगे कि जिन्होंने धीरे धीरे सूत्रों का रूप धारण किया। और पहिले हम धर्मशास्त्र को लेंगे। वैदिक बलिदानों के सम्बन्ध की रीतियों के विस्तारपूर्वक वर्णनों के संक्षिप्त ग्रन्थ बनाए गए और वे श्रौतसूत्र कहे जाते हैं। उन श्रौतसूत्रों में से ऋग्वेद के दो सूत्र अर्थात् आश्वलायन और साङ्खायन, सामवेद के तीन अर्थात् मासक, लात्यायन और द्राह्यायन; कृष्णयजुर्वेद के चार अर्थात् बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशिन्, और शुक्लयजुर्वेद के पूरे पूरे प्राप्त हैं। इन श्रौतसूत्रों का वर्णन हमारे पाठकों को रोचक न होगा तथापि इनके विषय में कुछ बातें उल्लेख करने योग्य हैं।

आश्वलायन प्रसिद्ध सौनक का शिष्य कहा जाता है और ऐसा कहा जाता है कि इन गुरु और शिष्य दोनों ने मिलकर ऐतरेय आरण्यक की अन्तिम दो पुस्तकें बनाईं। इस बात से यह मनोहर वृत्तान्त विदित होता है कि सब से पहिले के सूत्रग्रन्थों का ऐतिहासिक काव्य काल के ब्राह्मणों की अन्तिम दो पुस्तकों से लगाव है!

वास्तव में सौनक ऐतिहासिक काव्य काल में एक ध्यान के योग्य व्यक्ति है। यह कहा जाता है कि वही पूर्व जन्म में गृत्समद था जो कि ऋग्वेद की द्वितीय पुस्तक का वक्ता था। इससे कदाचित् यह अनुमान किया जा सकता है कि सौनक उसी कुल में हुआ था जिस कुल ने ऋग्वेद को कई शताब्दियों तक रक्षित रक्खा था। फिर जनमेजय परिक्षित के प्रसिद्ध अश्वमेध में भी हम इन्हीं सौनक को पुरोहित पाते हैं। इससे हम लोग यह निश्चय कर सकते हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल में सौनकवंश प्रसिद्ध पुरोहितों और विद्वानों का एक कुल था। आश्चर्य नहीं कि सब से पहिले के सूत्रों के बनानेवाले इस पूज्यकुल से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते हों।

यह अनुमान किया जाता है कि साङ्खायन श्रौतसूत्र भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का है तथा आश्वलायन पूर्वी भाग का।

सामवेद के मासक श्रौतसूत्र में भिन्न भिन्न विधानों के भजनों का उल्लेख है, और लात्यायन में भिन्न भिन्न आचार्यों के मत दिए हैं और ये दोनों सूत्र सामवेद के वृहत् ताण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मण

से सम्बन्ध रखते हैं। द्राह्मायन में कात्यायन से बहुत थोड़ा अन्तर है। कृष्णयजुर्वेद के सूत्र उनके लिखे जाने के समय के अनुसार इस क्रम में रक्खे गए हैं अर्थात् बौद्धायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, और हिरण्यकेशिन्। अप्राप्त भारद्वाजसूत्र का उद्धार करनेवाले डाक्टर बुहलर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि बौद्धायन और आपस्तम्ब के समयों में दशाब्दियों का नहीं वरन् शताब्दियों का अन्तर है। उन्होंने आपस्तम्ब के धर्मसूत्र का जो अनुवाद किया है उसकी बहुत ही उत्तम भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् ईस्वी के पहिले दक्षिणी भारतवर्ष में एक प्रबल हिन्दू राज्य अर्थात् अन्ध्रों का राज्य स्थापित हो गया था, इस राज्य की राजधानी कृष्णा नदी के तट पर आजकल की अमरावती के निकट कहीं पर थी। इसी राजधानी में सम्भवतः आपस्तम्ब ने जन्म लिया अथवा यहां पर वह आकर बसा और यहीं उसने अपना सूत्रचरण स्थापित किया, और उसका समय ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी के उपरान्त नहीं रक्खा जा सकता। आपस्तम्ब ने केवल छः वेदाङ्गों का ही नहीं वरन् पूर्व मीमांसा और वेदान्तलेखकों का भी उल्लेख किया है जिससे कि हम यह निश्चय करते हैं कि उस समय के पहिले भारतवर्ष में दार्शनिक लेखकों ने अपना काम प्रारम्भ कर दिया था।

शुक्लयजुर्वेद का स्रौतसूत्र कात्यायन ने बनाया है, जोकि प्रसिद्ध सौनक का शिष्य होने का भी दावा रखता है। कात्यायन वैय्याकरण पाणिनि का समालोचक था और मेक्समूलर के अनुसार उसका समय ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में है। पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है परन्तु हम इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे क्योंकि यह कार्य्य बड़े बड़े विद्वानों का है हम केवल प्रचलित मत को मान लेंगे कि यह वैय्याकरण अपने समालोचक के कुछ शताब्दी पहिले ही हुआ होगा। कात्यायन सूत्र में सतपथ ब्राह्मण का पूरी तरह से अनुकरण किया है और इस सूत्र के प्रथम १८ अध्याय इस ब्राह्मण के प्रथम नौ अध्यायों से मिलते हैं। लाट्यायन की भांति कात्यायन के भी मगध देशीय ब्रह्मबन्धुओं का उल्लेख मिलता है जो कि सब से पहिले के बौद्ध समझे गए हैं।

अब श्रौतसूत्रों के उपरान्त हम धर्मसूत्रों का प्रसन्नतापूर्वक

वर्णन करते हैं। इन में इस समय के चाल व्यवहार और कानून का वर्णन है और इसलिये वे हमारे इतिहास के लिये बड़े ही काम के हैं। श्रौतसूत्रों में हम हिन्दुओं को बलिदान करते हुए पाते हैं, परन्तु धर्म्मसूत्रों में हम नगरवासियों की नाईं उनका वर्णन पाते हैं।

केवल इतना ही नहीं वरन् प्राचीन समय के ये धर्म्मसूत्र इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि येही मूल ग्रन्थ हैं जिनको उत्तर काल में सुधार कर पद्य में स्मृतियां बनाई गई हैं जिनसे आज कल के हिन्दू परिचित हैं यथा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। आज तीस वर्ष हुए कि इस बात को मेक्समूलर साहब ने दिखलाया था और तब से जो खोज हुई है उससे यह बात पूरी तरह से सिद्ध हुई है। मनुस्मृति के विषय में पहिले जो यह मिथ्या अनुमान किया जाता था कि वह कानून बनानेवालों और शासकों की बनाई हुई है यह भ्रम इस आविष्कार से पूरी तरह जाता रहा और अब हम लोग यह जान गए कि ये स्मृतियाँ क्या हैं और वे कैसे और क्यों बनाई गईं? वे मूल सूत्र के रूप में (जोकि बहुधा गद्य में हैं और कहीं कहीं गद्यपद्यमय भी हैं, परन्तु कहीं भी स्मृतियों की नाईं लगातार पद्य में नहीं हैं) श्रौतसूत्रों की भांति सूत्रचरणों के संस्थापकों द्वारा बनाई गईं थीं और वे युवा हिन्दुओं को इसलिये रटाई जाती थीं जिसमें वे अपने पीछे के जीवन में यह न भूलें कि नगरवासी तथा समाज के सभ्य की भांति उनके क्या कर्तव्य हैं। समाज के प्रत्येक जन के हृदय पर उनके धार्मिक, सामाजिक और स्मृतियुक्त धर्म्मों को अंकुरित करने के लिये हिन्दुओं ने जो उद्योग किया था उससे बढ़कर किसी जाति ने नहीं किया।

जो धर्मसूत्र खो गए हैं और अब तक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं उनमें एक तो मानवसूत्र अर्थात् मनु का सूत्र है जिससे कि पीछे के समय में पद्यमय मनुस्मृति बनाई गई है। ऐसा जान पड़ता है कि सूत्रकाल में मनु का धर्मसूत्र इसी भांति सत्कार की दृष्टि से देखा जाता था जैसे कि आज कल पद्यमय मनुस्मृति देखी जाती है। सूत्रग्रन्थों में मनु का बहुधा उल्लेख किया गया है और डाक्टर बुहलर साहब ने वशिष्ठ और गौतम के धर्मसूत्रों में दो स्थानों पर मनु के उद्धृत वाक्य दिखलाए हैं।

जो धर्मसूत्र अभी तक मिले हैं उनमें से डाक्टर बुलहर ने

ऋग्वेद के वाशिष्ठसूत्र, सामवेद के गौतमसूत्र, और कृष्णयजुर्वेद के बौद्धायन और आपस्तम्ब सूत्रों का अनुवाद किया है।

समय के विचार से गौतम के धर्मसूत्र सब से प्राचीन हैं और हमें बौद्धायन के सूत्र में गौतम का एक पूरा अध्याय उद्धृत मिलता है और फिर वशिष्ठ ने वही अध्याय बौद्धायन से उद्धृत किया है। और हम यह भी देख चुके हैं कि आपस्तम्ब बौद्धायन के पीछे हुआ है।

हम श्रौतसूत्रों का उल्लेख कर चुके हैं जिसमें कि पूजा करनेवालों के धर्म्म दिये हैं और धर्म्मसूत्रों का भी वर्णन कर चुके हैं जिसमें कि नगरवासियों के धर्म हैं। परन्तु मनुष्य के पूजा करने और नगरवासी होने के अतिरिक्त और भी धर्म और कर्तव्य है। उसे अपने घर के लोगों पर; पुत्र, पति, अथवा पिता की नाईं धर्म पालन करना पड़ता है। घरेलू घटनाओं के सम्बन्ध में उसे बहुत ही थोड़े विधान करने पड़ते थे और वे श्रौतसूत्रों के विस्तृत विधानों से बहुत भिन्न थे। इन गृह्यविधानों के लिये एक अलग नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी और ये नियम "गृह्यसूत्रों" में दिए हुए हैं।

इन सीधे सादे गृह्यविधानों में, जो कि घर की अग्नि के निकट किए जाते थे और जिनमें बड़े बड़े यज्ञों की भांति विशेष चूल्हे नहीं जलाए जाते थे, बहुत सी मनोरञ्जक बातें हैं। घर की अग्नि प्रत्येक गृहस्थ अपने विवाह पर जलाता था और उसमें पाक यज्ञ के सीधे सादे विधान सुगमता से किए जाते थे। प्रोफ़ेसर मेक्समूलर साहब कहते हैं कि "चूल्हे की अग्नि में एक लकड़ी रखना, देवतों को अर्घ देना, और ब्राह्मणों को दान देना, यही पाकयज्ञ में होता था।" गौतम ने सात प्रकार के पाकयज्ञ लिखे हैं—(१) अष्टका जो कि जाड़े में चार महीने किये जाते थे (२) पार्वण जो कि पूर्णिमा और अमावस्या को किए जाते थे (३) श्राद्ध अर्थात् पितरों को प्रतिमास अर्घ देना (४-७) श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री और आस्वयुजी जोकि उन महीनों की पूर्णमासी को किये जाते थे, जिनसे कि उनका नाम पड़ा है। इन विधानों का जो वृत्तान्त गृह्यसूत्रों में दिया है वह हिन्दुओं को बड़ा मनोरञ्जक होगा क्योंकि दो हज़ार वर्षों के बीत जाने पर भी हम लोग अब तक उन्हीं मनोरञ्जक विधानों को किसी को तो उसी प्राचीन नाम से और बहुतों को किसी

दूसरे नाम और कुछ दूसरी तरह पर बच रहे हैं। गृह्यसूत्रों में उन सामाजिक विधानों के भी वृत्तान्त दिए हैं जो कि विवाह पर, पुत्र के जन्म पर उसके अन्नप्रासन पर, उसके विद्याध्ययन आरम्भ करने के आदि में होते थे। और इस प्रकार से इन अमूल्य गृह्यसूत्रों से हमें प्राचीन हिन्दुओं के घरेलू जीवन का पूरा पूरा वृत्तान्त विदित हो जाता है।

ऋग्वेद के साङ्खायन और आस्वलायन गृह्यसूत्रों और शुक्ल-यजुर्वेद के पारस्करगृह्यसूत्र का हर्मन ओल्डेनबर्ग साहब ने अनुवाद किया है। एक दूसरे ग्रन्थ का विज्ञापन दिया गया है जिसमें गोभिल आदि का अनुवाद होगा। परन्तु वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ *।

सौतसूत्र, धर्मसूत्र, और गृह्यसूत्र को मिलाकर कल्पसूत्र कहते हैं। वास्तव में ऐसा समझा जाता है कि प्रत्येक सूत्रचरण में एक पूरा कल्पसूत्र होता था जिनके विभागों का उल्लेख ऊपर किया गया है। परन्तु जितने सूत्र थे उनमें से बहुत से खो गए हैं और अब सूत्रग्रन्थों के केवल बहुत थोड़े अंश हम लोगों को प्राप्त हैं। आपस्तम्ब का पूरा कल्पसूत्र अब तक है और वह ३० प्रश्नों अथवा भागों में है। इनमें से पहिले २४ में सौतयज्ञों का वर्णन है। पच्चीसवें में व्याख्या करने के नियम हैं, छब्बीसवें और सत्ताईसवें में गृह्यविधानों का उल्लेख है, अट्ठाईसवें और उनतीसवें में धर्मसूत्र हैं, और तीसवें प्रश्न अर्थात् सुल्वसूत्र में रेखागणित की उन रीतियों का वर्णन है जिनसे कि सौतयज्ञों के लिये वेदियां बनाई जाती थीं। डाक्टर थीबो साहब ने इन मनोरंजक सुल्वसूत्रों से पाश्चिमात्य देशों को परिचित किया है। उनके ग्रन्थ के छपने से वान-सेडर का यह मत दृढ़ होता है कि पिथेगोरस ने केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही नहीं वरन् अपना गणितशास्त्र भी भारतवर्ष ही से ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में सीखा था।

हमने यहां तक कल्पसूत्रों का वर्णन किया है, क्योंकि कल्प-सूत्र इस समय के ग्रन्थों में सबसे मुख्य और इतिहास के लिये सब से बहुमूल्य हैं। हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों ने पांच अन्य वेदाङ्गों

* उपरोक्त वाक्यों के लिखे जाने के उपरान्त यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है।

अर्थात् वैदिक विभागों की गणना की है और हम यहां संक्षेप में उनका उल्लेख करेंगे।

"शिक्षा"–उच्चारण करने का शास्त्र। ये इस बात को मानने के प्रमाण हैं कि इस शास्त्र के नियम पहिले आरण्यकों में और ऐतिहासिक काव्य काल के ब्राह्मणों में भी थे परन्तु दार्शनिक काल में इस शास्त्र पर अधिक उत्तम ग्रन्थ बनने के कारण उनका लोप हो गया। ये ग्रन्थ प्रातिसाख्य कहलाते हैं और इनमें वेद की प्रत्येक शाखा के सम्बन्ध में उनके उच्चारण करने के नियम हैं।

परन्तु बहुत से प्रातिसाख्य खो गए हैं और (सामवेद को छोड़कर) प्रत्येक वेद का केवल एक एक प्रातिसाख्य हम लोगों को अब तक प्राप्त है। ऋग्वेद का प्रातिसाख्य प्रसिद्ध सौनक का बनाया कहा जाता है। इसी भांति शुक्लयजुर्वेद का एक प्रातिसाख्य भी वर्तमान है और वह कात्यायन का बनाया हुआ कहा जाता है। कृष्णयजुर्वेद और अथर्ववेद के भी एक एक प्रातिसाख्य हैं परन्तु उनके ग्रन्थकारों के नाम अब विस्मृत हो गए हैं। हमारे पाठकों को यह बात बड़ी मनोरंजक होगी कि कृष्णयजुर्वेद के प्रातिसाख्य में जिन ऋषियों के नाम हैं उनमें एक वाल्मीकि भी हैं।

छन्दों का उल्लेख वेदों में किया गया है और आरण्यकों और उपनिषदों में उसके लिये पूरे अध्याय के अध्याय लगाए गए हैं। परन्तु जो दशा शिक्षा की है, वही छन्दों की है अर्थात् छन्दों का शास्त्र की भांति वर्णन पहिले पहिल हम को सूत्रग्रन्थों ही में मिलता है। ऋग्वेद के छन्दों के विषय में इस वेद के प्रातिसाख्य के अन्त में कुछ अध्याय हैं। सामवेद के लिये प्रसिद्ध निदानसूत्र है।

व्याकरण के विषय में सुयोग्य पाणिनि के सुयश ने उस समय के और सब वैय्याकरणों को अन्धकार में डाल दिया है। पाणिनि भारतवर्ष के उत्तरपश्चिमी कोने की छोर में था और वहां ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का, जो कि अधिकतर गंगा और यमुना के किनारों पर बनाए गए थे, बहुत कम प्रचार वा सत्कार था। अतएव पाणिनि भी इनसे बहुत कम परिचित था। डाक्टर गोल्ड स्टूकर साहब का यह सिद्धान्त ठीक है कि पाणिनि बुद्ध के पहिले हुआ था।

इसी भांति निरुक्तशास्त्र में यास्क के नाम ने (जोकि डाक्टर

गोल्डस्टूकर तथा अन्य विद्वानों के मत से पाणिनि के पहिले हुआ है) अपने पूर्वजों के नाम को अन्धकार में डाल दिया है और हम को उनके विषय में जो कुछ पता लगता है वह यास्क के ग्रन्थों से ही लगता है। लोग यह बहुधा भूल करते हैं कि यास्क के ग्रन्थ को 'निरुक्त' कहते हैं। सायन लिखता है कि निरुक्त एक ऐसे ग्रन्थ को कहते हैं जिसमें थोड़े शब्द दिए हुए हों। यास्क ने ऐसा एक पुराना निरुक्त लेकर उसपर टीका लिखी है और यह टीकाही उसका ग्रन्थ है।

कोलब्रूक साहब ने प्रत्येक वेद के ज्योतिष पर भिन्न भिन्न ग्रन्थों का उल्लेख किया है और इनमें से एक को, जिसकी टीका भी है, वे 'ऋग्वेद का ज्योतिष' कहते हैं। परन्तु प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने पता लगाया है कि ये सब ग्रन्थ एक ही ग्रन्थ की भिन्न भिन्न प्रतियां हैं और उनका विश्वास है कि यह ग्रन्थ सूत्रों के समय के उपरान्त बनाया गया था, यद्यपि उसमें जो सिद्धान्त और नियम दिए हैं वे हिन्दू ज्योतिष के सबसे प्रथम समय के हैं। उनका प्रायोगिक उद्देश्य यह है कि नक्षत्रों के विषय में इतना ज्ञान हो जाय जिसमें कि यज्ञों के करने का समय नियत हो सके और धर्म्म सम्बन्धी कार्यों के लिये एक पंचाङ्ग बन सके। अतएव इस ग्रन्थ के बनने का समय चाहे कितना ही पीछे का क्यों न हो पर उसमें भारतवर्ष के ऐतिहासिक काव्य काल के अर्थात् जब कि वेद संग्रहीत करके ठीक किए गए थे उस समय के निरीक्षणों का फल दिया है और इसलिये ये उस समय के प्रमाण हैं जिनका कि सहज में तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त छः वेदांगों के सिवाय एक दूसरी श्रेणी के ग्रन्थ भी हैं जो 'अनुक्रम' कहलाते हैं और ये भी सूत्रग्रन्थों से सम्बन्ध रखते हैं। ऋग्वेद की अनुक्रमणी कात्यायन की बनाई हुई कही जाती है और उसमें प्रत्येक सूक्त का पहिला शब्द, ऋचा की संख्या, उसके बनानेवाले का नाम, छंद और देवता का नाम दिया है। ऋग्वेद की कई प्राचीनतम अनुक्रमणियां भी थीं परन्तु उन सब का स्थान कात्यायन के अधिक पूर्ण ग्रन्थ ने ले लिया है।

यजुर्वेद की तीन अनुक्रमणियां हैं अर्थात् एक तो ऐत्रेय कृष्ण-यजुर्वेद के लिये, दूसरी चरक के लिये और तीसरी माध्यन्दिन शुक्लयजुर्वेद के लिये।

सामवेद की एक प्राचीन सूची आर्षेय ब्राह्मण में है और कुछ सूची परिशिष्टों में है । अथर्ववेद की एक अनुक्रमणी का पता बृटिश म्यूज़ियम में लगा है ।

हमको अभी दार्शनिक काल के सबसे उत्तम ग्रन्थों का वर्णन करना बाकी ही है । ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त के उपनिषदों में जिन सिद्धान्तों और दार्शनिक खोजों का आरम्भ हो गया था उनसे उन गहरे अनुसंधानों और गूढ़ विचारों का प्रारम्भ हुआ जो षट्दर्शनशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं । प्रोफेसर वेबर साहब ने यह बहुत ठीक कहा है कि हिन्दुओं के मन ने दर्शनशास्त्र और व्याकरण में अपनी विचारशील शक्ति का सब से अद्भुत परिचय दिया है । भौतिक पदार्थ और जीव, सृष्टि की उत्पत्ति और पुनर्जन्म के गूढ़ से गूढ़ विषयों का वर्णन सांख्यदर्शन में उपनिषदों की नाईं अनुमान की भांति नहीं, वरन् अविचल शास्त्रीय नियमों और तर्कशास्त्र के अटल सिद्धान्तों के साथ दिया है । अन्य लोगों ने भी सांख्यदर्शन का अनुकरण किया और जीव और मन, सृष्टि और सृष्टिकर्ता के भेदों को जानने के लिये अन्वेषण किया ।

कट्टर हिन्दू लोग इन विचारों के प्रचार से भयभीत होने लगे और उन्होंने इसके विरुद्ध कार्य आरम्भ किया । उसका फल यह वेदान्त है जोकि उपनिषदों के मत का पुनरुल्लेख करता है और जो वर्तमान समय में हिन्दुओं के धर्मसम्बन्धी विश्वासों का मूल है । परन्तु इसी बीच में दार्शनिक सम्मतियों से एक अधिक प्रबल विचार वेग आरम्भ हो गया था । गौतम बुद्ध इसी के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ और गरीब और नीच लोगों को यह शिक्षा देने लगा कि वैदिक विधान निरर्थक है और पवित्र शान्त और परोपकारी जीवन ही धर्म्म का सार है और जो लोग पवित्रता और शुद्धता के लिये यत्न करते हैं उनमें जातिभेद नहीं रहता । इस विचार को हजारों मनुष्यों ने स्वीकार किया और इस प्रकार भारतवर्ष में बुद्ध का धर्म्म फैलने लगा यहां तक कि समय पाकर वह समस्त एशिया का धर्म्म हो गया ।

ऊपर इस काल के ग्रन्थों का जो संक्षिप्त वर्णन दिया गया है उस से पाठकों को हिन्दूसभ्यता के इस अति चमत्कृत काल के मानसिक उत्साह का कुछ बोध हो जायगा । इसमें गृहस्थों के

लिये धार्मिक अधिकार और कर्तव्य स्पष्टता और संक्षेप के साथ नियत किए गए।

अध्याय २।

हिन्दुओं का फैलाव।

दार्शनिक काल में भारतवर्ष के इतिहास का एक नया वृत्तान्त विदित होता है। अर्थात इसी काल में यूनानी लोग भारतवर्ष में आए और उन्होंने यहां का वृत्तान्त लिखा। भारतवर्ष के वैदिक काल की शताब्दियों में यूनानियों की सभ्यता और उनका जातीय जीवन आरम्भ नहीं हुआ था। और ट्रोजन युद्ध के असभ्य योधाओं को भी अपने समकालीन और दूरदेशी सभ्य हिन्दुओं का बहुत कम वृत्तान्त विदित था। अतएव यूनानी साहित्य से भारतवर्ष के इतिहास के प्रथम दो कालों का कुछ वृत्तान्त विदित नहीं होता। जिस यूनानी ने पहिले पहिल भारतवर्ष से विद्या प्राप्त की कि वह दर्शनशास्त्रज्ञ पिथेगोरेस् समझा जाता है। वह ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ, अर्थात् हिन्दू इतिहास के दार्शनिक काल में। और उसके सिद्धान्तों और विचारों से उस समय के हिन्दुओं के विचारों का कुछ पता लगता है उसने उपनिषदों तथा हिन्दुओं के प्रचलित विश्वासों से पुनर्जन्म होने तथा अन्त में मुक्ति पाने का सिद्धान्त सीखा। और उसने जिन कठोर नियमों का पालन करने तथा मांस और सेम न खाने के लिये लिखा है यह भी उसने भारतवर्ष ही से सीखा था। उसने अपनी रेखागणित सल्वसूत्रों से सीखी है, संख्याओं के गुणों के विषय में इसके विचार सांख्यदर्शन से उद्धृत हैं, और उसका पांच तत्वों का सिद्धान्त तो भारतवर्ष के सिद्धान्त से बिलकुल मिलता है।

प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस् ईसा से पांचवीं शताब्दी पहिले हुआ। वह स्वयं भारतवर्ष में नहीं आया था। फिर भी उसने भारतवर्ष का जो इतिहास सुन कर लिखा है वह बड़ा बहुमूल्य है, यद्यपि उसने उसमें दन्तकथाएँ भी मिला दी है और प्रायः भ्रम से हिन्दुओं के स्थान पर उन असभ्य आदिमवासियों की चाल व्यवहार का वर्णन किया है जो कि भारतवर्ष के बड़े बड़े भागों में उस समय तक बसे थे। हेरोडोटस् लिखता है कि हिन्दु

लोग उस समय की जातियों में सब से बड़े थे, वे कई जातियों में बँटे हुए थे और जुदी जुदी भाषाएँ बोलते थे, उन्होंने अपने देश में बहुत सा सोना एकत्रित किया था, भारतवर्ष में और देशों की अपेक्षा बड़े चौपाए और चिड़ियां अधिकता से होते थे और उसमें जंगली पौधे होते थे जिनमें ऊन (रुई) उत्पन्न होता था जिससे कि वे लोग अपने लिये कपड़ा बनाते थे। (III. 94–106) एक दूसरे स्थान पर वह थ्रेसियन् के विषय में लिखता है कि वे लोग हिन्दुओं को छोड़ कर और सब जातियों से बड़े थे। (V,3) हेरोडोटस् और भी एक बात लिखता है जोकि कदाचित् सच्ची ऐतिहासिक घटना है अर्थात् उसने लिखा है, कि पारस के राजा दारा ने भारतवर्ष का कुछ भाग जीत लिया था और उसके जहाज सिन्धु नदी में होकर समुद्र तक गए थे (IV. 44)।

और अन्त में, ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में मेगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया था और पाटलीपुत्र अर्थात् प्राचीन पटने के राजा चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था। और यद्यपि उसका बनाया हुआ मूल इतिहास अब नहीं मिलता तथापि उसके अंश बहुत सी उत्तरकाल की पुस्तकों में उद्धृत मिलते हैं। इनका संग्रह बॉन के डाक्टर स्वानबेक ने किया है और मिस्टर मेकक्रिंडल ने उनका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया है। ये भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े ही उपयोगी हैं और हमको इन्हें बहुधा उद्धृत करने का अवसर मिलेगा। पैथेगोरेस्, हीरोडोटस् और मेगास्थिनीज़ दार्शनिक काल की इन तीनों शताब्दियों में अर्थात् ईसा के पहिले छठीं, पांचवीं और चौथी शताब्दियों में भारतवर्ष की उच्च सभ्यता के साक्षी हैं।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तक दिल्ली से लेकर उत्तरी बिहार तक गंगा और यमुना की सारी घाटी जीती जा चुकी और हिन्दुओं की हो चुकी थी। हम यह भी देख चुके हैं कि उस काल के बिलकुल अन्त में अर्थात् ईसा के लगभग १००० वर्ष पहिले हिन्दू अधिवासी, उद्योगी और यात्री लोग अज्ञात भूमि में दूर दूर अर्थात् दक्षिणी बिहार, मालवा, दक्षिण और गुजरात तक जा घुसे थे। और हम यह भी देख चुके हैं कि ये अनार्य देश धीरे धीरे हिन्दुओं को विदित होते जाते थे और ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त तथा दार्शनिक काल के प्रारम्भ में धीरे धीरे हिन्दुओं के अधिकार में आते जाते थे।

हिन्दू लोग आगे की ओर विजय करते गए और आदिवासी उनकी उच्च सभ्यता और उत्तम धर्म को स्वीकार करते गए। उन्हों ने नदियों को पार किया, जंगलों को साफ़ किया, भूमि को काम में लाने योग्य बनाया, उजाड़ भूमि को बसाया और उन नए देशों में जो अब तक आदिवासियों के थे, हिन्दूशासन और हिन्दूधर्म का प्रचार हुआ। जहां पहिले थोड़े से लोग जा घुसे थे वहां नई प्रबल बस्तियां हो गईं और जहां धार्मिक आचार्य लोग एकान्त में जा बसे थे उन स्थानों पर शान्त गांव और नगर हो गए। जिन स्थानों पर दो चार व्यापारी लोग किसी अविदित नदी द्वारा जा पहुंचे थे वहां अब सभ्य लोगों के काम की अमूल्य वस्तुओं से लदी हुई नावें आती जाती थीं। जहां किसी राज्यवंश का कोई मनुष्य देश से निकाला जा कर वा शिकार के लिये आ बसा था, वहां अब एक हरा भरा राज्य दिखाई देता था जिसकी प्रजा वेही आदिमवासी लोग थे जोकि जीते जा कर सभ्य और हिन्दू हो गए थे। और जहां जंगलियों ने कुछ पेड़ गिरा कर जंगल का थोड़ा सा भाग साफ कर लिया था वहां अब कोसों दूर तक फैले हुए सुहावने खेत दिखाई देते थे जिनमें कि हरेभरे अनाज के पेड़ लहरा रहे थे और सभ्यता की उन्नति की साक्षी दे रहे थे।

एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में तथा एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी में आर्यों के विजय का इतिहास इस प्रकार है। और प्रत्येक सूत्रग्रन्थ से यथाक्रम यही विदित होता है कि सभ्यता की उन्नति तथा असभ्यता की कमी होती गई। दार्शनिक काल के समाप्त होने अर्थात् ईसा के पहिले चौथी शताब्दी के बहुत पहिले ही हम लोग सारे भारतवर्ष को बसाया हुआ, सभ्य तथा हिन्दू बनाया हुआ पाते हैं और आदिमनिवासी लोग केवल उन पहाड़ियों और जंगलों में रह गए थे जिनको जीतने से आर्य लोग घृणा करते थे। इसमें केवल विजय करने का ही इतिहास नहीं है कि जो दर्शन-शास्त्र जाननेवालों के लिये मनोरञ्जक न हो। इसमें तब तक अविदित देशों और आदिवासी जातियों में हिन्दू सभ्यता के प्रचार की भी कथा है। दक्षिण के अन्ध्र लोग, गुजरात के सौराष्ट्र लोग, दक्षिणी भारतवर्ष के चोल, चेरा और पांड्य लोग और पूर्वी भारतवर्ष के मगध, अङ्ग, बङ्ग और कलिङ्ग लोगों ने हिन्दू आर्यों के श्रेष्ठ धर्म,

भाषा और सभ्यता को ग्रहण कर लिया था। यह दार्शनिक काल का सब से बड़ा कार्य है।

बौद्धायन सम्भवतः ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में हुआ है और जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं वह सब से पहिले के सूत्रकारों में से है। उसके समय में हिन्दुओं के राज्य और सभ्यता की सीमा दक्षिण में कलिङ्ग वा पूर्वी समुद्रतट तक थी और आधुनिक उड़ीसा से लेकर दक्षिण की ओर कृष्णा नदी के मुहाने तक फैली हुई थी। नीचे उद्धृत किए हुए वाक्य मनोरञ्जक हैं क्योंकि उनसे विदित होता है कि गंगा और यमुना की घाटी का प्राचीन आर्यदेश तब तक भी आर्यों के लिये योग्य निवासस्थान समझा जाता था और वह देश जिसमें की अनार्य जातियां अभी ही हिन्दू बनाई गई थीं तुच्छता की दृष्टि से देखा जाता था।

(९) "आर्यों का देश (आर्यावर्त्त) उस देश के पूरब में है जहां कि यह नदी (सरस्वती) लोप होती है, यह कालक वनके पश्चिम, पारिपत्र (विन्ध्यपर्वत) के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है। उस देश के चाल व्यवहार के नियम प्रामाणिक हैं।

(१०) "कुछ लोग कहते हैं कि यह यमुना और गंगा के बीच का देश (आर्यावर्त्त) है।

(११) ' अब भाल्लविन लोग भी नीचे लिखे हुए वाक्य कहते हैं।

(१२) "पश्चिम में सीमा की नदी, पूरब में वह देश जहां कि सूरज ऊगता है, उतनी दूर तक जहां कि काले हिरन घूमते हैं वहां तक धर्म्म की श्रेष्ठता पाई जाती है।

(१३) "अवन्ति (मालवा), अंग (पूर्वी बिहार), मगध (दक्षिणी बिहार), सौराष्ट्र (गुजरात), दक्षिण, उपावृत्त, सिन्ध और सौवीरस (दक्षिण पंजाब) के निवासी लोग मिश्रित जाति के हैं।

(१४) "जिसने आरट्टों (पंजाब में), कारस्करों (दक्षिणी भारतवर्ष में), पुन्ड्रों (उत्तरी बंगाल में). सौवीरों (पंजाब में) वंगों (पूर्वी बंगाल में), कलिंगों (उड़ीसा में), इन प्रान्तों से भेंट की है उस को पुनस्तोम वा सर्वपृष्ठ यज्ञ करना चाहिए।" (बौद्धायन १,१,२)

उपरोक्त वाक्य मनोरञ्जक हैं क्योंकि उनसे हमको मालूम होता है कि दार्शनिक काल के आरम्भ में हिन्दुओं का फैलाव कहां तक

था, और उनसे यह भी विदित होता है कि हिन्दू लोग तीन श्रेणियों में विभाजित थे जोकि सत्कार की भिन्न भिन्न दृष्टि से देखी जाती थीं। पहिली श्रेणी के लोग आर्यावर्त्त में रहते थे जो कि सरस्वती से लेकर बिहार की सीमा तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक था। यह बात विचित्र है कि पंजाब, जो कि वैदिक समय में आर्यों का सब से प्राचीन निवासस्थान था, वह आर्यावर्त्त में सम्मिलित नहीं है। यह देश तब से पीछे के समय में हिन्दुओं के धर्म्म और सभ्यता की उन्नति में पिछड़ता रहा है और उसका उल्लेख ऐतिहासिक काव्य काल के ग्रन्थों में भी बहुत ही कम पाया जाता है।

दूसरी श्रेणी के लोग, जोकि मिश्रित जाति के कहे गए हैं, उस देश में रहते थे जिसमें कि दक्षिणी पंजाब, सिंध, गुजरात, मालवा, दक्षिण और दक्षिणी और पूर्वी बिहार सम्मिलित हैं। यदि पाठकगण हमारे दूसरे काण्ड के चौथे अध्याय को देखेंगे तो उनको विदित होगा कि ये वही देश हैं जोकि ऐतिहासिक काव्य काल के अंत में हिन्दुओं को बहुत थोड़े अंश में मालूम होते जाते थे। दार्शनिक काल के प्रारम्भ में वे हिन्दुओं के देश हो गए थे और हिन्दुओं का अधिकार और उनकी सभ्यता का प्रचार इनके आगे के उन अन्य देशों में भी होने लगा था जिनके निवासी तीसरी श्रेणी के समझे जाते थे। इस तीसरी वा अन्तिम श्रेणी के देश में पंजाब में आरट्ट लोगों का देश, उड़ीसा, पूर्वी और उत्तरी बंगाल और दक्षिणी भारतवर्ष के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इन देशों में जो लोग यात्रा करते थे उनको अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये यज्ञ करना पड़ता था। यह ईसा के पहिले छठीं शताब्दी के लगभग हिन्दुओं के देश की सब से अन्तिम सीमा थी।

दक्षिणी भारतवर्ष के भागों में इस समय तक हिन्दू लोग केवल बसही नहीं गए थे परन्तु ये देश हिन्दूराज्य और न्याय और विद्या के सम्प्रदाय के मुख्य स्थान हो गए थे जैसा कि बौधायन के लिखने से विदित होता है। बौधायन स्वयं कदाचित् दक्षिण का रहनेवाला हो, कम से कम वह दक्षिणी भारतवर्ष की विशेष चालव्यवहारों और रीतियों का सावधानी से वर्णन करता है।

हम उसका एक वाक्य उद्धृत करेंगे—

(१) दक्षिण और उत्तर में पांच कर्म्मों में भेद है।

(२) हम दक्षिण की विशेषता को वर्णन करेंगे।

(३) "वे ये हैं—अदीक्षित मनुष्य के संग खाना, अपनी पत्नी के संग खाना, बासी खाना, मामा या चाचा की कन्या से विवाह करना *।

(४) "अब उत्तर देश की जिन रीतियों में विशेषता है वे ये हैं ऊन बेचना, शराब पीना, उन पशुओं को बेचना जिनके ऊपर और नीचे के जबड़े में दांत होते हैं, शस्त्र का व्यवसाय करना और समुद्र यात्रा करना। †

(५) "जिस देश में ये व्यवहार प्रचलित हैं उसके अतिरिक्त दूसरे देश में वे पाप समझे जाते हैं।

(६) "इनमें से प्रत्येक काम के लिये किसी देश का व्यवहार ही प्रमाण समझा जाना चाहिए।

(७) "गौतम कहते हैं कि यह झूठ है।" [बौद्धायन १, १, २]।

अब हम बौद्धायन को छोड़ कर भारतवर्ष के दूसरे सूत्रकार को लेते हैं। यदि बौद्धायन का समय ईसा के पहिले छठी शताब्दी में समझा जाय तो आपस्तम्ब सम्भवतः पांचवी शताब्दी में हुआ ‡। इस में कदाचित् सन्देह नहीं है कि आपस्तम्ब अन्ध्रों के राज्य और समय में रहता था। इस बड़े साम्राज्य में गोदावरी और कृष्णा के बीच के सब देश सम्मिलित हैं। डाक्टर बुहलर साहब विचारते हैं कि इस साम्राज्य की राजधानी कृष्णा के तट पर आजकल की अमरावती के निकट थी। आपस्तम्ब तैत्तिरीय आरण्यक के अन्ध्र ग्रन्थ को

* डाक्टर बुहलर कहते हैं कि दक्षिण के देशस्थ और करहाड़ ब्राह्मणों में ऐसा विवाह अब तक प्रचलित है।

† उत्तर काल के अधःपतन ने समुद्र यात्रा रोक दी है।

‡ डाक्टर बुहलर भाषातत्त्व के सिद्धान्तों के अनुसार आपस्तम्ब का समय ई० पू० तीसरी शताब्दी में स्थिर करते हैं। परन्तु दूसरे कारणों से वे उस सूत्रकार का समय १५०, २०० वर्ष पीछे अर्थात् पांचवीं शताब्दी में रखते हैं।

मानता था और उसकी शिक्षा आज तक नासिक, पूना, अहमदाबाद, सूरत, शोलापुर, कोल्हापुर और दक्षिण के दूसरे देशों के उन ब्राह्मणों में जो कि आपस्तम्बीय हैं बड़े सत्कार से मानी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिणी भारत वर्ष का विजय, जो कि ऐतिहासिक काव्य काल के अन्त में आरम्भ किया गया था आगे की शताब्दियों में होता रहा। छठी शताब्दी तक बंगाल, उड़ीसा गुजरात और दक्षिण विजय करलिया गया था और उनमें रहने वाले लोग आर्य्य बना लिये गये थे, और पांचवीं शताब्दी तक दक्षिण में कृष्णा नदी तक एक बड़ा हिन्दुओं का साम्राज्य स्थापित हो गया था। ईसा के पहिले चौथी शताब्दी तक कृष्णा नदी के दक्षिण का संपूर्ण दक्षिणी भारत वर्ष हिन्दुओं का हो गया था और उनमें कोलों, चेरों और पांड्यों के तीन बड़े बड़े हिन्दू साम्राज्य स्थापित हो गए थे जो कि दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुए थे और लङ्का भी जानी जा चुकी थी। जब हम इस (चौथी) शताब्दी के अन्त में आते हैं तो हमको सूत्रग्रन्थों के फुटफाट वाक्यों के अन्धकार से यूनानियों का लिखा हुआ भारतवर्ष का प्रकाशमय इतिहास मिलता है। क्योंकि इसी शताब्दी में सिल्यूकस का राजदूत मेगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया था और पाटलिपुत्र (प्राचीन पटना) में ईसा के पहिले सन् ३१७ से लेकर ३१२ तक चन्द्रगुप्त के दरबार में रहा था।

मेगास्थिनीज़ ने भारतवर्ष की जातियों और राज्यों का पूरा और समझ में आने योग्य वृत्तान्त लिखा है और उससे हमको दार्शनिक काल के अन्त में भारतवर्ष की अवस्था का स्पष्ट ज्ञान होता है।

ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में भारतवर्ष में प्राच्य लोग, जिनसे कि हम को मगध लोगों को समझना चाहिए, सब से प्रबल हो गये थे, जैसा कि ऐतिहासिक काव्य काल में कुरु, पाञ्चाल, विदेह, और कोशल लोग हो गए थे।

उनकी राजधानी पाटलिपुत्र था जो कि एक भरापूरा नगर था और ८० स्टेडिया अर्थात् ९ मील लम्बा [१ स्टेडिया=२०२¾ अंगरेजी गज] और १५ स्टेडिया अर्थात् लगभग दो मील चौड़ा कहा गया है। वह समचतुर्भुज के आकार का था और चारों ओर

काठ की दीवार * से घिरा हुआ था जिसमें तीर चलाने के लिये छेद बने हुए थे और सामने रक्षा के लिये एक खाई थी।

यह मालूम होगा कि सारा उत्तरी भारतवर्ष चन्द्रगुप्त के प्रबल और विस्तृत राज्य में सम्मिलित नहीं था, क्योंकि मथुरा और करसीबोरा में बहती हुई यमुना पाटलिपुत्र की राजधानी में कही गई है। यहां के लोग भारतवर्ष की और सब जातियों से बल और यश में प्रबल थे और उनके राजा चन्द्रगुप्त की सेना में ६००,००० पैदल सिपाही, ३०,००० सवार और ९००० हाथी थे "जिससे कि उसके बल का अनुमान किया जा सकता है।"

---

* यह काठ की दीवार ईसा के उपरान्त पांचवीं शताब्दी तक खड़ी थी जब कि उसे चीन के यात्री फाहियान ने देखा था। फाहियान लिखता है "शहर में जो राजा के महल हैं उनकी दीवारों के पत्थरों का संग्रह देवों ने किया था। खिड़कियों पर शोभा के लिये संतराशी की जो चित्रकारी खुदी थी वैसी इस समय में कदापि नहीं बन सकती। वह अब तक वर्तमान है।"

फाहियान के थोड़े ही समय पीछे पाटलिपुत्र का पतन होगया क्योंकि जब ईसा की सातवीं शताब्दी में हेनत्सांग यहां आया तो उसने सिवाय खँड़हर और एक गांव के जिसमें दो तीन सौ मकान थे और कुछ न देखा। सन् १८७६ में एक तालाब बनाने के लिये जो भूमि खोदी गई थी तो उसमें कुछ वस्तुएं निकली हैं जो कि मेगास्थिनीज़ की वर्णन की हुई काठ की दीवार का टूटन फूटन समझी गई हैं। पटने में रेलवे स्टेशन् और चौक के बीचो बीच खोदनेवालों ने जमीन से १२ या १५ फीट नीचे एक लम्बी ईंटों की दीवार पाई थी जो कि उत्तर पश्चिम कोण से लेकर दक्षिण पूरब कोण तक थी। इस दीवार के समानान्तर एक कटघरों की पंक्ति थी जिसकी मजबूत लकड़ियां दीवार की ओर थोड़ी झुकी हुई थीं। एक स्थान पर एक रास्ता या फाटक मालूम होता था, जहां कि दो लकड़ी के खम्भे ८ या ९ फीट ऊंचे खड़े

दक्षिणी बंगाल के विषय में मेगास्थिनीज़ लिखता है कि कलिंग लोग समुद्र के सब से निकट रहते थे, मंडू और मल्ली लोग उसके ऊपर, गंगे रीव लोग गंगा के मोहाने पर, और मध्य-कलिंग लोग गंगा के एक टापू में।

यह असम्भव है कि इनमें से पहिले और अन्तिम नामों से हम लोग कलिंग का प्राचीन नाम न जान सकें जिसमें कि उड़ीसा और बंगाल का समुद्रतट सम्मिलित है। मेगास्थिनीज़ कलिंग की राजधानी पार्थलिस बतलाता है। इसके प्रबल राजा के पास ६०,००० पैदल सिपाही, १००० घोड़े और ७०० हाथी थे।

गंगा नदी के एक बड़े टापू में मध्य-कलिंग लोगों का निवास कहा गया है और उनके आगे कई बड़ी बड़ी जातियां एक राजा के राज्य में रहती थीं जिसके पास ५०,००० पैदल सिपाही, ४००० सवार और ४०० हाथी थे।

उनके आगे अंडरी लोग रहते थे जिससे कि दक्षिणी भारतवर्ष के अन्ध्र लोगों को न समझना असम्भव है।

अन्ध्र एक बहुत बड़ी जाति थी जो कि पहिले पहिल गोदावरी और कृष्णा के बीच में आ बसी थी। परन्तु मेगास्थिनीज़ के समय के पहिलेही उसने अपना राज्य उत्तर में नर्वदा तक फैला दिया था। मेगास्थिनीज़ लिखता है कि वह एक प्रबल जाति थी जिसके पास बहुत से गांव और दीवारों से घिरे हुए ३० नगर थे और जिस के राजा के पास १००,००० पैदल सिपाही, २००० सवार और १००० हाथी थे।

उत्तर पश्चिम की ओर पर मेगास्थिनीज़ लिखता है कि ईसंगी, कोसिरी, और अन्य जातियाँ थीं जो कि कदाचित् काश्मीर वा उसके आस पास होंगी।

हुए थे परन्तु उनके ऊपर का चौकठ नहीं था। कुछ कुएं भी पाए गए थे जिसमें टूटे हुए मिट्टी के बर्तन भरे हुए थे। उनमें से एक कुआं साफ किया गया जिसमें साफ पीने का पानी निकला और जो कूड़ा बाहर निकाला गया था उसमें बहुत से लोहे के भालों के शिर पाए गए थे। मैकक्रिण्डल साहेब की 'मेगास्थिनीज़ ऐण्ड एरियन' नामक पुस्तक के पृष्ठ २०७ का नोट देखो।

सिंध नदी प्राच्यों के देश की सीमा कही गई है जिससे यह समझना चाहिए कि मगध का प्रबल और विस्तृत राज्य पंजाब की सीमा तक फैला हुआ था और उसमें समस्त उत्तरी भारतवर्ष सम्मिलित था।

मेगास्थिनीज़ के समय में आधुनिक राजपुताने के बहुत से भागों में आदिवासी जातियां अब तक भी थीं जो कि ऐसे जंगलों में रहती थीं जहां के चीते भयानकता के लिये प्रसिद्ध थे। उसमें उन जातियों का वर्णन लिखा है जो कि बियाबान से घिरी हुई उपजाऊ भूमि में रहती थीं और उन जातियों का भी वर्णन है जो कि समुद्रतट के समानान्तर की लगातार पर्वतश्रेणी पर रहती थीं। उसने उन जातियों का भी उल्लेख किया है जो सब से ऊंचे पर्वत कपितलिया-जिससे कि आबू समझना चाहिए--से घिरे हुए स्थान में रहती थीं। फिर उसने हौरेटी लोगों का उल्लेख किया है जो कि निस्सन्देह सौराष्ट्र लोग थे। उनकी राजधानी समुद्रतट पर थी और वह बड़ा वाणिज्यस्थान था और उनके राजा के पास १६००० हाथी, १५०,००० पैदल सिपाही और ५००० सवार थे।

"उसके उपरान्त पेंड़ी जाति थी और यह भारतवर्ष में केवल एक ही ऐसी जाति थी जिसका शासन स्त्रियां करती थीं। वे कहते हैं कि हरक्यूलिज़ को केवल एक ही कन्या थी और इसलिये वह उसे बहुत ही प्रिय थी। उसने उसे एक बड़ा राज्य दिया। उसकी सन्तति २०० नगरों पर राज्य करती थी और उनके पास १५०,००० पैदल सिपाही और ५०० हाथी थे।"

यह आधी कल्पित कथाओं से मिला हुआ मेगास्थिनीज़ का वर्णन पाण्डव लोगों के विषय में है जोकि दक्षिणी भारतवर्ष की छोर पर राज्य करते थे। इन पाण्डवों का एक अद्भुत इतिहास है।

कृष्ण के साथ जो यादव लोग मथुरा को छोड़ कर गुजरात में द्वारिका में आबसे थे वे वहां बहुत काल तक नहीं रहे। उनमें परस्पर लड़ाई होने लगी और मर कट कर जो बचे उन्होंने समुद्र के मार्ग से द्वारिका छोड़ दी। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वे लोग दक्षिणी भारतवर्ष में आए और वहां उन्होंने एक नया राज्य स्थापित किया। वे लोग अपने को पाण्डव सम्भवतः इसलिये कहते थे क्योंकि वे पाण्डवों की जाति के होने का दावा करते थे और उन्होंने अपनी

नई दक्षिण की राजधानी का नाम मथुरा वा मदुरा रक्खा और वह आज तक इसी नाम से पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हरक्यूलीज़ के नाम से मेगास्थिनीज़ का तात्पर्य कृष्ण से है। उसने कदाचित् कृष्ण के विषय में अपनी कन्या के लिये दक्षिण में एक राज्य स्थापित करने के लिये कोई कथा सुनी होगी जोकि भारतवर्ष में उस समय प्रचलित रही हो।

और अन्त में मेगास्थिनीज़ के समय में लङ्का भी जानी जा चुकी थी। उसको मगध के एक राजकुमार ने जीता था जिसको कि ईसा के पहिले पांचवीं शताब्दी में उसके पिता ने उसके दुष्कर्मों के लिये देश से निकाल दिया था। जब मेगास्थिनीज़ भारतवर्ष में आया उस समय लङ्का में हिन्दुओं का राज्य था। इस टापू को यूनानी लोग तप्रोबनी के नाम से पुकारते थे जोकि पाली भाषा के तम्बपन्नी और संस्कृत के ताम्रपर्णी से मिलता है। मेगास्थिनीज़ कहता है कि यह टापू भारतवर्ष से एक नदी के द्वारा अलग था और उसमें सोना और बड़े बड़े मोती होते थे और वहां के हाथी भारतवर्ष से बहुत बड़े होते थे। ईलियन् जिसने कि मेगास्थिनीज़ के बहुत उपरान्त लिखा है परन्तु अन्य यूनानी और रोमन ग्रन्थकारों की नाईं बहुत सा वृत्तान्त मेगास्थिनीज़ से लिया है, कहता है कि तप्रोबनी एक बड़ा टापू था जिसमें बहुत से पर्वत थे और उसमें बहुत अधिकता से खजूर के पेड़ थे। वहां के लोग नरकटों की बनी हुई झोपड़ी में रहते थे, अपने हाथियों को आर पार लेजाने के लिये नाव बनाते थे और उन्हें कलिंग के राजा के यहां लेजाकर बेचते थे।

हम दार्शनिक काल की सातों शताब्दियों का राज्य सम्बन्धी वृत्तान्त लिख चुके जैसा कि गत अध्याय में हम ने उसके साहित्य का वर्णन किया था। इस काल में झुंड के झुंड हिन्दू लोग गंगा की घाटी से निकल कर अज्ञात देशों में गए, उन्होंने वहां की जातियों को पराजित किया और धीरे धीरे उनमें अपनी भाषा धर्म और सभ्यता का प्रचार किया। दक्षिण बिहार के मगध लोग केवल हिन्दू ही नहीं बना लिए गए थे वरन् वे भारतवर्ष में सब से प्रबल हो गए। गुजरात के राष्ट्र लोग और पूरब के अंग, बंग, और कलिंग लोग हिन्दू बना लिए गए थे। बड़ी अन्ध्र जाति ने केवल हिन्दूधर्म और सभ्यता ही को स्वीकार नहीं कर लिया था वरन् उसने हिन्दू-

विद्या के ऐसे चरणों से अपने को विख्यात किया था जोकि गंगा की घाटी के बड़े बड़े चरणों के बराबर के थे। उनके पीछे अन्य जातियों ने आर्यों की श्रेष्ठ सभ्यता, धर्म्म और भाषा को स्वीकार किया और भारतवर्ष की सब आर्य और अनार्य्य जातियों ने हिन्दू आर्यसभ्यता का कलेवर धारण कर लिया।

अध्याय ३

राज्यप्रबन्ध, खेती और शिल्प।

भारतवर्ष में २००० वर्ष पहिले कैसा राज्यप्रबन्ध था यह बात हमारे पाठकों को स्वभावतः मनोरञ्जक होगी और यह हर्ष का विषय है कि इसका विश्वास योग्य वृत्तान्त हिन्दूसूत्रकारों और युनानी-लेखकों दोनों ही से हमको मिलता है। हम पहिले सूत्रग्रन्थों के कुछ वाक्यों से प्रारम्भ करेंगे। राजा के लिये अपना नगर और महल जिसका द्वार दक्षिण की ओर हो बनाने के लिये कहा गया है—

(३) "महल नगर के बीचो बीच रहना चाहिए"।

(४) "उसके सामने एक दालान रहनी चाहिए। वह अतिथियों की दालान कहलाती है"।

(५) "नगर से कुछ दूर पर दक्षिण की ओर उसे एक सभागृह बनवाना चाहिए जिसके द्वार उत्तर और दक्षिण की ओर हों जिसमें कि लोग देख सकें कि उसके भीतर और बाहर क्या होता है"।

अग्नि बराबर जला करै और उसमें शाकला डाला जाया करै और—

(८) "दालान में उसे अतिथियों को कम से कम उन लोगों को जो वेद जानते हों बैठाना चाहिए"।

(९) "उनको योग्यतानुसार उन्हें स्थान, आसन, मांस और मद्य देना चाहिए"।

उसमें एक चौकी पर पासे भी रहने चाहिए और वहां ब्राह्मणों वैश्यों और शूद्रों को खेलने देना चाहिए। राजा के नौकरों के घरों में शस्त्र के खेल, नाच और गाना बजाना हो सकता है, और राजा को अपनी प्रजा का बराबर ध्यान रखना चाहिए।

(१५) "वही राजा अपनी प्रजा के सुख का ध्यान रखता है जिसके राज्य में, चाहे वह गांव में हो वा जंगल में, चोर का भय नहीं रहता।" (आपस्तम्ब २, १०, २५)

वशिष्ठ राजा के धर्म्मों का यों वर्णन करता है—

(१) "राजा का मुख्य धर्म्म सब प्राणियों की रक्षा करना है, इसको पूरा करने से उसे सफलता होती है।

(३) "उसे गृहस्थों की रस्मों को करने के लिये एक पुरोहित नियत करना चाहिए।

(८) "जो लोग धर्म्म के पथ पर न चलें उन्हें दंड देना चाहिए।

(११) "जिन वृक्षों में फूल और फल होते हैं उनकी हानि उसे नहीं करनी चाहिए।

(१२) "परन्तु खेती को बढ़ाने के लिये वह उनकी हानि कर सकता है।

(१३) "गृहस्थों के लिये जिस नाप और तौल की आवश्यकता है उसको ठीक रखना चाहिए।

(१४) "उसको अपने राज्य के लोगों की संपत्ति अपने लिये नहीं छीननी चाहिए।

(१५) "इन संपत्तियों में से केवल कर की नाईं कुछ अंश लिया जा सकता है। (वशिष्ठ १४)

वशिष्ठ (१,४२) और बौन्धायन (१,१०,१८१,) कहते हैं कि राजा अपनी प्रजा की आय का छठाँ भाग कर की भाँति ले सकता है, परन्तु उसे उन लोगों को छोड़ देना चाहिए जो कर देने के अयोग्य हैं। गौतम कर के विषय में इस भांति लिखता है—

(२४) "खेती करनेवालों को राजा को (पैदावार का) दसवाँ, आठवाँ, या छठा भाग कर देना चाहिए।

(२५) "कुछ लोग कहते हैं कि पशु और सोने का पाँचवाँ भाग कर देना चाहिए।

(२६) "वाणिज्य में (बेचनेवाले को) बीसवाँ भाग कर देना चाहिये।

(२७) "कंद, फल, फूल, जड़ी बूटी, मधु, मांस, घासपात और लकड़ी में छठाँ भाग।

(३१) "हर एक शिल्पकार को महीने में एक दिन (राजा का) काम कर देना चाहिए।

(३२) "इससे जो लोग मजदूरी करके अपना पालन करते हैं उनके कर का निर्णय हो गया।

(३३) "और उनका भी जो लोग कि जहाज़ या गाड़ी के मालिक हैं।

(३४) "जब तक ये लोग उसके लिये काम करें तो उन्हें उसे खाना देना चाहिए। (गौतम १०)

जिस भांति राज्य का प्रबन्ध वास्तव में किया जाता था उसका वर्णन मेगास्थनीज़ ने बहुत अच्छी तरह लिखा है। उसके निम्न लिखित वाक्य मनोरञ्जक होंगे—

"जिन लोगों के जिम्मे नगर का प्रबन्ध रहता है वे ६ श्रेणी के हैं जिनमें से प्रत्येक श्रेणी में पांच मनुष्य होते हैं, पहिली श्रेणी के लोग शिल्प के विषय का सब प्रबन्ध करते हैं। दूसरी श्रेणी के विदेशियों के सत्कार का प्रबन्ध करते हैं। इनके लिये वे ठहरने को स्थान देते हैं और जिन लोगों को उनकी सेवा के लिये नियत करते हैं उनके द्वारा उनकी चौकसी रखते हैं। जब वे लोग शहर से जाने लगते हैं तो उनको ये मार्ग में अपनी रक्षा के लिये जाते हैं और यदि उनकी मृत्यु हो जाय तो उनका माल असबाब उनके सम्बन्धियों के पास भेज देते हैं। यदि वे बीमार पड़ें तब भी उनकी सेवा करते हैं और यदि मर जांय तो उनको गाड़ देते हैं। तीसरी श्रेणी के प्रबंधकर्ता इस बात की खोज रखते हैं कि जन्म और मृत्यु कब और कैसे हुई। इस काम को केवल वह कर लगाने के लिये ही नहीं करते वरन् इसलिये भी कि जिस में बड़े या छोटे आदमियों की जन्म वा मृत्यु राज्य की जानकारी से बच न जाय। चौथी श्रेणी के प्रबन्ध कर्ता वाणिज्य और व्यापार की देख भाल करते हैं। वे लोग नाप और बटखरों की देख भाल रखते हैं और इसकी जांच रखते हैं कि फस्ल की पैदावार राज्य की जानकारी के बिना बेची न जाय। कोई मनुष्य एक से अधिक वस्तु का व्यापार नहीं करने पाता जब तक कि वह दूना कर न दे। पांचवीं श्रेणी के प्रबन्धकर्ता दस्तकारी की वस्तुओं की देख भाल करते हैं और उसे लोगों की जानकारी से बेचते हैं। नई वस्तुएँ

पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। यदि कोई उन्हें मिलाकर बेचे तो उसे दण्ड दिया जाता है। छठीं श्रेणी के प्रबन्धकर्ता का यह काम है कि बिक्री की वस्तुओं का जो मूल्य आवै उसका दशांश उगाहे।

सेना के पदाधिकारी भी ६ श्रेणी के होते हैं तिन में से प्रत्येक श्रेणी में पांच पांच मनुष्य होते हैं।

पहिली श्रेणी के पदाधिकारी जंगी जहाज़ के सेनापति की सहायता के लिये होते हैं; दूसरी श्रेणी के उन छकड़ों की जो कि युद्ध के शस्त्रों को ले जाने के काम में आते हैं, सिपाहियों के भोजन की, पशुओं के लिये घास की, तथा सेना सम्बन्धी अन्य आवश्यक वस्तुओं की देख भाल करते हैं। तीसरी श्रेणी के लोगों पर पैदल सिपाहियों के प्रबन्ध का भार होता है। चौथी श्रेणी पर घोड़ों के प्रबन्ध का, पांचवीं श्रेणी पर युद्ध के रथों का और छठी श्रेणी पर हाथियों का।" नगर और सेना के प्रबन्धकर्ताओं के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के पदाधिकारी भी होते थे जो कि खेती, जल सींचने और जंगल तथा दिहातों में राज्य का सब प्रबन्ध करते थे। "कुछ लोग नदियों की देख भाल करते थे और भूमि को नापते थे जैसा कि ईजिप्ट देश में होता है और उन फाटकों की देख भाल करते थे, जिनके द्वारा कि मुख्य नहर में से उनकी शाखाओं में पानी लाता था जिससे कि सबको बराबर पानी मिले। इन्हीं लोगों के जिम्मे शिकारियों का भी प्रबन्ध होता था और उनको योग्यता के अनुसार उन्हें पुरस्कार वा दण्ड देने का उन्हें अधिकार भी होता था। वे लोग कर उगाहते थे और भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारों की, जैसे कि लकड़ी काटने वाले बढ़ई, लोहार और खान में काम करनेवालों की देख भाल रखते थे। वे सड़क बनवाते थे और दस दस स्टेडिया पर दूरी दिखलाने के लिये पत्थर गड़वाते थे।" (मेकक्रिण्डल का अनुवाद)।

राजाओं के निज की चाल व्यवहार के विषय में मेगास्थनीज़ ने जो वर्णन लिखा है वह संस्कृत साहित्य के वर्णन से मिलता है। राजा के शरीर की रक्षा का भार दासियों के ऊपर रहता था। वे लोग अपने बाप मा से मोल ले लिए जाते थे। और रक्षक तथा अन्य सिपाही लोग द्वार के बाहर रहते थे। राजा नित्य राजसभा करते थे, और वहां बिना कार्य्य में रोकावट डाले दिन भर रहते

थे। दूसरे अवसरों पर वे महल के बाहर केवल तब आते थे जब कि या तो उन्हें यज्ञ करना हो अथवा शिकार को जाना हो। जब वे शिकार को जाते थे तो झुण्ड की झुण्ड स्त्रियां उनके चारों ओर होती थीं और उनके उपरान्त भाला लिए हुए सिपाही होते थे। राजा के साथ जब कि वह हाथी पर बैठकर शिकार करता था रथों में, घोड़ों वा हाथियों पर शस्त्र लिये हुए स्त्रियां होती थीं। कभी कभी वह एक कटघरे के भीतर चबूतरे पर बैठकर तीरों से शिकार करता था और उस समय शस्त्र लिये हुए दो या तीन स्त्रियां चबूतरे पर खड़ी रहती थीं। इस वृत्तान्त से विदित होता है कि ऐतिहासिक काव्य काल के कुरु और पांचाल लोगों की बलवान और वीरोचित चाल व्यवहार के स्थान पर दार्शनिक काल में कुछ विलासप्रियता और स्त्रीवत चाल व्यवहार हो गई थी। वीरता का समय चला गया था और विलास का समय आ गया था।

हिन्दुओं का युद्ध के लिये तैयार होने का वर्णन एरियन इस भांति देता है—"पैदल सिपाही लोग अपनी ऊंचाई के बराबर धनुष धारण करते हैं। इसको वे भूमि पर टेक कर और अपने बाएं पैर से उसको दबाकर कमान की डोरी को पीछे की ओर खींचकर तीर छोड़ते हैं। उनकी तीर तीन गज से कुछ ही कम लम्बी होती है और ढाल, कवच वा उससे भी बढ़कर रक्षा की कोई चीज नहीं है जोकि हिन्दू धनुष चलाने वाले के निशाने से बच सके। वे अपने बाएं हाथ में बैल के चमड़े की ढाल लिये रहते हैं जो कि धारण करनेवाले मनुष्य के इतनी चौड़ी नहीं रहती परन्तु उनके बराबर लम्बी रहती है। कोई कोई सिपाही धनुष के बदले में भाला लिये रहते हैं और वे एक तलवार भी लिये रहते हैं जिसकी धार चौड़ी रहती है, परन्तु वह तीन हाथ से अधिक लम्बी नहीं रहती और जब वे युद्ध करने लगते हैं तो अपनी रक्षा के लिये इस तलवार को दोनों हाथों से चलाते हैं। घोड़सवारों के पास दो भाले होते हैं जोकि सौनिया की भांति होते हैं, और उनकी ढाल पैदल सिपाहियों से छोटी होती है। क्योंकि वे लोग घोड़ों पर ज़ीन नहीं कसते और न वे यूनानियों वा केल्ट लोगों की भांति लगाम लगाते हैं; परन्तु वे घोड़ों के मुंह के चारों ओर बैल के चमड़े को बांध देते हैं जिसके नीचे एक नोकीला लोहे वा पीतल का कांटा लगाते हैं, परन्तु वह बहुत तीखा नहीं होता। यदि कोई आदमी अमीर

होता है तो वह हाथी दांत का कांटा लगाता है।" (मेकक्रिण्डल का अनुवाद ।

हिन्दुओं में युद्ध के नियम संसार की दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक अच्छे थे। "आर्य्य लोग उन लोगों को नहीं मारते थे जोकि अपना शस्त्र रख देते थे वा जो लोग बाल खोलकर वा हाथ जोड़ कर दया की प्रार्थना करते थे अथवा जो लोग भाग जाते थे।" (आपस्तम्ब २, ५, १०, ११) जो लोग भयभीत हों अथवा नशे में हों, पागल हों वा आपे से बाहर हों अथवा जिन लोगों के पास शस्त्र न हों उनसे तथा स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और ब्राह्मणों से युद्ध न करना चाहिये।" (बौद्धायन १, १०, १८, ११) "मृत सिपाहियों की स्त्रियों का निर्वाह करना चाहिए।" (वशिष्ठ १९, २०) और मेगास्थनीज़ भी हिन्दुओं के युद्ध के अच्छे नियम होने की साक्षी देता है। "क्योंकि जहां अन्य जातियां युद्ध में भूमि को उजाड़ कर ऊसर की भांति कर डालती हैं इसके विरुद्ध हिन्दू लोग किसानों को एक पवित्र और अभंग जाति समझते हैं। और जमीन जोतने बोने वाले यदि उनके निकट ही युद्ध हो रहा हो तो वे किसी भय में नहीं रहते, क्योंकि दोनों दल के लड़ने वाले युद्ध में केवल एक दूसरे को मारते हैं परन्तु खेती करने वालों से कुछ भी छेड़छाड़ नहीं करते। इसके अतिरिक्त वे न तो अपने शत्रु की भूमि में आग लगाते हैं और न वहां पेड़ों को काट गिराते हैं।

मेगास्थनीज कहता है कि हिन्दू जातियां गिनती में सब एकसौ अठारह थीं। भारतवर्ष के उत्तर में और हिमालय के उस पार के देश में "वे सीदियन लोग रहते थे जोकि सकाई कहलाते थे।" यह उस प्रबल जाति का संक्षेप में वर्णन है जो कि हिमालय पर्वत की उत्तरी ढाल पर काले बादलों की भांति ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में रहती थी और जो कुछ शताब्दी में पश्चिम में भारतवर्ष पर प्रबल आंधी की भांति आपड़ी और जिसने हिन्दू राज्य को छिन्न भिन्न कर डाला।

भारतवर्ष के शान्त और न्याय के अनुसार रहनेवाले लोगों का मेगास्थनीज़ जो वर्णन करता है उसे प्रत्येक हिन्दू घमण्ड से पढ़ सकता है। "वे बड़े सुख से रहते हैं और बड़े सीधे सादे और कम खर्च होते हैं। वे यज्ञों को छोड़कर और कभी शराब नहीं पीते। उनकी शराब जौ के बदले चावल से बनाई जाती है और उनका

मुख्य आहार चावल ही होता है। उनका सीधापन और उनकी प्रतिष्ठा इसी से समझ लीजिए कि वे बहुत ही कम न्यायाधीश के पास जाते हैं। गिरवी रखने या अमानत के विषय में उनका कभी कोई दावा नहीं होता और न उनको मोहर या गवाहों की आवश्यकता होती है। वे अमानत रखदेते हैं और एक दूसरे पर विश्वास रखते हैं। वे अपने गृह और संपत्ति को बहुधा अरक्षित छोड़ देते हैं। इन बातों से उनका धीर स्वभाव विदित होता है। वे सत्यता और धर्म को समान आदर की दृष्टि से देखते हैं। इसी लिये वे वृद्धों को यदि उनमें विशेष बुद्धि न हो तो कोई विशेष अधिकार नहीं देते।" इसके अतिरिक्त मेगास्थिनीज़ कहता है कि हिन्दू लोग विदेशियों को भी गुलाम नहीं बनाते, स्वदेशियों को तो भला वे क्यों बनाने लगे। उनमें चोरी चिरलेही कभी होती थी। उनमें न्याय ज़बानी होता था और वे लिखना नहीं जानते थे। नियार्कस से हमलोगों को विदित होता है कि भारतवर्ष में दार्शनिक काल में लोग लिखना जानते थे। अतएव मेगास्थिनीज़ के वर्णन से केवल यह समझा जाना चाहिए कि लिखने का प्रचार कम होगा अर्थात् पाठशालाओं में बालकों को शिक्षा ज़बानी ही दी जाती थी और ज़बानी ही वे अपना धर्म पाठ कंठाग्र करते थे और न्यायालयों में भी विद्वान न्यायाधीश लोग धर्मसूत्रों को कंठस्थ रख कर उनके अनुसार न्याय करते थे।

एरियन ने नियार्कस का एक वाक्य उद्धृत किया है और वह कहता है कि भारतवासी "नीचे रूई का एक वस्त्र पहिनते हैं जो घुटने के नीचे आधी दूर तक रहता है और उसके ऊपर एक दूसरा वस्त्र पहिनते हैं जिसे कुछ तो वे कंधों पर रखते हैं और कुछ अपने सिर के चारों ओर लपेट लेते हैं। ... ... वे सफेद चमड़े के जूते पहिनते हैं और ये बहुत ही अच्छे बने हुए होते हैं। उनके तल्ले भिन्न विचित्र के तथा बड़े मोटे होते हैं"। और भारतवर्ष के अधिकांश लोग अन्न खा कर रहते हैं और भूमि जोतते बोते हैं परन्तु इनमें पहाड़ी लोग सम्मिलित नहीं हैं जोकि शिकारी जन्तुओं के मांस खाते हैं। हमारा सच्चा हाल बतलानेवाला मेगास्थिनीज़ प्राचीन भारतवर्ष की खेती का भी वृत्तान्त लिखता है जोकि प्रायः आजकल की खेती की रीति से मिलता है। मेगास्थिनीज़ ने जाड़े की वृष्टि को लगातार वृष्टि समझ कर लिखा है कि वर्ष

में दो बार वृष्टि होती थी। वह कहता है कि यहां "बहुत से बड़े बड़े उपजाऊ और सुहावने मैदान थे और सब में बहुत सी नदियां बहती थीं। भूमि का अधिक भाग सिंचाई में था और इस कारण वर्ष में दो फस्ल होती थीं। उसके साथ ही उसमें सब भांति के पशु, खेत के चौपाए और भिन्न भिन्न बल और आकार की चिड़ियां बहुतायत से होती थीं। इसके अतिरिक्त वहां बड़े बड़े हाथी भी अधिक होते थे...... अनाज के अतिरिक्त भारतवर्ष में बाजरा भी बहुतायत से होता है और वह नदियों के अधिक होने के कारण अच्छी तरह सींचा जाता है। वहां कई प्रकार की दाल और गेहूं और "बासपोरम" तथा खाने के लिये दूसरे बहुत से पेड़ होते हैं जिनमें से बहुतेरे आप से आप ऊगते हैं। इसके सिवाय इस भूमि में जानवरों के खाने योग्य बहुत प्रकार की चीजें होती हैं जिनका ब्योरा लिखना कठिन है। कहा जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं आया और कभी खाने की चीजों की महँगी नहीं हुई। इसका कारण यह है कि वर्ष में दो बार वृष्टि होती है,–अर्थात् एक तो जाड़े में गेहूं बोने के समय जैसा कि अन्य देशों में होता है, और दूसरे गर्मी में जब कि चावल "बासपोरम", बाजरा और तिल बोने का ठीक समय है,—भारतवर्ष के लोग प्रायः सदा ही वर्ष में दो फस्ल काटते हैं और यदि एक फस्ल कुछ खराब भी हो जाय तो उन को सदा निश्चय रहता है कि दूसरी फस्ल अच्छी होगी। इसके सिवाय आपसे होनेवाले वृक्षों के फल और खाने योग्य कन्द जो कि नम जगहों में भिन्न भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों के खाने के लिये बहुतायत से हैं।"

आज कल किसी हिन्दू के लिये यह असम्भव है कि वह दो हजार वर्ष पहिले की हिन्दुओं के समय की भारतवर्ष की इस भाग्यवती दशा का वृत्तान्त जो कि इस बुद्धिमान और योग्य विदेशी ने पक्षपात रहित हो कर लिखा है, बिना घमण्ड के न पढ़े। सुन्दर गांवों में परिश्रमी और शान्त खेती करनेवाले रहते थे और वे विस्तृत उपजाऊ खेतों को सावधानी और परिश्रम के साथ जोतते बोते और सींचते थे। और नगर के शिल्पकार बड़ी ही उत्तमता के साथ भांति भांति की वस्तुएं बनाते थे। यह विचारना असम्भव है कि ये सब फल राज्य की सावधानी और सुप्रबन्ध के बिना ही, जान और माल की उत्तम रक्षा के बिना और उचित और उत्तम

कानून की सहायता के बिना हो गए हों। और जब कभी राजा लोगों में परस्पर युद्ध भी होता था और लड़ाके क्षत्री सर्दार लोग रणभूमि में होते थे उस समय भी भारतवर्ष में एक ऐसी दयालु रीति प्रचलित थी जिसने कि युद्ध की भयानकता को कम कर दिया था और शान्त गाँव के रहनेवालों और परिश्रमी खेती करनेवालों को उपद्रव और विपत्ति से रक्षित रक्खा था। यह रीति प्राचीन समय में और कहीं प्रचलित नहीं थी।

भारतवर्ष की उत्तम शिल्प की वस्तुएं ईसा के बहुत पहिले फिनीशिया के व्यापारियों और पश्चिमी एशिया तथा ईजिप्ट के बाजारों में परिचित थीं। मेगास्थिनीज़ कहता है कि भारतवासी "शिल्प में बड़े चतुर थे जैसा कि स्वच्छ वायु में रहनेवाले और बहुत ही उत्तम जल पीने वाले लोगों से आशा की जा सकती है"। भूमि के भी "नीचे सब प्रकार की धातुओं की बहुत सी खानें थीं क्योंकि उस में बहुत सा सोना और चाँदी, ताँबा और लोहा और टीन तथा अन्य धातुएं भी होती हैं जोकि काम की चीज और गहने तथा युद्ध के हरबे हथियार और हर तरह के औज़ार बनाने के काम में आती थीं। गहनों और आभूषणों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि "उनकी सीधी सादी चाल पर ध्यान देते हुए उनको आभूषण और गहने बहुत प्रिय हैं। उनके कपड़ों में सुनहला काम होता है और उन में रत्न जड़े रहते हैं और वे सबोत्तम मल मल के फूलदार काम के कपड़े भी पहिनते हैं। उनके पीछे नौकर लोग उन्हें छाता लगा कर चलते हैं, क्योंकि वे सुन्दरता पर बहुत ही अधिक ध्यान रखते हैं और अपनी सुन्दरता बढ़ाने के लिये सब प्रकार के उपाय करते हैं।"

परन्तु स्ट्रैबो ने जिस धूमधाम की यात्रा का वर्णन किया है वह बड़ा मनोरञ्जक है और ऐसी धूमधाम मेगास्थिनीज़ ने भी पाटलिपुत्र की गलियों में अवश्य देखी होगी।

"त्योहारों में उनके जो यात्राप्रसंग निकलते हैं उन में सोने और चाँदी के आभूषणों से सज्जित बहुत से हाथियों की कतार होती है, बहुत सी गाड़ियां होती हैं जिन में चार चार घोड़े वा कई जोड़ी बैल जुते रहते हैं। उस के उपरान्त पूरी पोशाक में बहुत से नौकर चाकर रहते हैं जिनके हाथ में सोने के बर्तन, बड़े बड़े बर्तन और कटोरे मेज़, ताँमजान ताँबे के पीने के प्याले और बर्तन जिन में से बहुतों

में पन्ने, फीरोज़े, लाल इत्यादि रत्न जड़े रहते हैं, सोनहले कामदार वस्त्र, जंगली जानवर यथा भैंसे, चीते, और पालतू शेर और अनेक प्रकार के परवाले और मधुर गीत गानेवाले पक्षी रहते हैं"। (बान साहेब का स्ट्रैबो का अनुवाद ३ पृष्ठ ११७)

अध्याय ४

कानून।

संसार के प्राचीन इतिहास में कहीं भी विजय करनेवालों और पराजित लोगों में अथवा पुजेरियों और सांसारी मनुष्यों में बराबरी के कानून नहीं रहे हैं। प्राचीन समय में ग्रीक और हेलोट लोगों के लिये, पेट्रीशियन और प्लिबिअन लोगों के लिये, ज़मीदारों और काश्तकारों के लिये, पुजेरियों और संसारी लोगों के लिये, अंग्रेजों और हबशियों के लिये, वा अंग्रेजों और अमेरिका के लाल मनुष्यों के लिये, एक ही कानून नहीं थे। और संसार के अन्य देशों की नाईं भारतवर्ष में भी भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों के लिये भिन्न भिन्न कानून थे। ब्राह्मणों के लिये एक कानून था, शूद्रों के लिये दूसरा। ब्राह्मणों से अनुचित उदारता के साथ बर्ताव किया जाता था और शूद्रों के साथ बहुत अधिक निर्दयता और कड़ाई के साथ। यदि कोई ब्राह्मण स्मृति में लिखे हुए चार वा पांच महापातकों में से कोई पाप करे अर्थात् यदि वह किसी ब्राह्मण को मारडाले, अपने गुरु की स्त्री से व्यभिचार करे, किसी ब्राह्मण का द्रव्य चुराले वा शराब पीवे तो राजा उसके ललाट को गरम लोहे से दगवा कर उसे अपने देश से निकाल देता था। यदि कोई नीच जाति का मनुष्य किसी ब्राह्मण को मारडाले तो उसे फांसी दी जाती थी और उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी। यदि कोई मनुष्य अपने बराबर की जाति वा अपने से नीच जाति के मनुष्य को मारडाले तो उसको उपयुक्त दण्ड दिया जाता था (बौद्धायन १, १०, १८, १९)

व्यभिचार भारतवर्ष में सदा से केवल दोष ही नहीं वरन् एक घोर पाप समझा जाता है। परन्तु उसके लिये भी जो दण्ड दिया जाता था वह दोषी की जाति के अनुसार दिया जाता था। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्री वा वैश्य किसी शूद्र स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो वह देश से निकाल दिया जाता था परन्तु यदि कोई शूद्र

प्रथम तीनों जाति की किसी स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। (आपस्तम्ब २, १०, २७)

परन्तु कानून बनानेवाले ब्राह्मण इन बातों से जैसे बुरे समझे जा सकते हैं वैसे वे वास्तव में नहीं हैं। अपने और शूद्रों के बीच बड़ा भारी अन्तर दिखलाने के अभिप्राय से उन्हों ने घमण्डी शूद्रों के लिये बड़े बड़े दण्ड नियत किए हैं जिनके विषय में यह कह देना उचित होगा कि वे केवल धमकी मात्र रहे और केवल धमकी ही के लिये बनाए गए थे। जो शूद्र प्रथम तीनों जातियों के किसी धार्म्मिक मनुष्य की बुराई करता था, उसकी जीभ काट ली जाती थी और जो शूद्र उन जातियों की बराबरी करता था उसको कोड़े लगाए जाते थे (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इसी प्रकार जो शूद्र किसी द्विज को गाली देता वा मारता था उसका वह अंग काट डाला जाता था जिससे कि उसने दोष किया हो। यदि उसने वेद का पाठ सुना हो तो उसके कान गली हुई लाह वा टीन से बन्द कर दिए जाते थे, यदि उसने वेद का पाठ किया हो तो उसकी जीभ काट डाली जाती थी और यदि उसे वेद का पाठ स्मरण हो तो उसकी देह काट कर दो टुकड़े कर दी जाती थी। (गौतम १२)।

पाठकगण यह बात सहज में समझ लेंगे कि सूत्रों के बनानेवाले ब्राह्मण लोग अपने और अन्य जातियों, और विशेषतः शूद्रों, के बीच अंतर प्रगट करने के लिये बड़े उत्सुक थे और इसलिये उन्हों ने कानूनों को उसका दस गुना कठोर दिखलाया है जैसा कि योग्य राजा, क्षत्री कर्म्मचारी वा ब्राह्मण न्यायाधीश भी वास्तव में करते थे।

जो क्षत्री किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे सौ कार्षापण देने पड़ते थे और जो ब्राह्मणों को मारे उसे दो सौ कार्षापण देने पड़ते थे। जो वैश्य किसी ब्राह्मण को गाली दे उसे डेढ़ सौ कार्षापण और कदाचित् मारने के लिये तीन सौ कार्षापण देने पड़ते थे। परन्तु जो ब्राह्मण किसी क्षत्री को गाली दे तो उसे केवल पचास कार्षापण देने पड़ते थे, वैश्य को गाली देने के लिये उसे २५ कार्षापण, और शूद्र को गाली देने के लिये कुछ भी नहीं देना पड़ता था। (गौतम १२, ८—१३)।

जान पड़ता है कि चोरी के लिये, कमसे कम कुछ अवस्थाओं में प्राणदण्ड वा शारीरिकदण्ड दिया जाता था। और कहा जाता है कि चोर राजा के सन्मुख खुले हुए बालों से अपने हाथ में एक लकड़ी लिए हुए उपस्थित होता था और अपने दोष को स्वीकार करता था। यदि राजा उसे क्षमा कर दे, उसे प्राणदण्ड न दे वा न मारे तो अपराध का भागी राजा होता था (गौतम १२, ४५)।

क्षमा करने का विशेष अधिकार केवल राजाही को था। प्राणदण्ड के दोषों को छोड़ कर अन्य अवस्थाओं में दोषी के लिये गुरू, उपरोहित, कोई विद्वान गृहस्थ वा कोई राजकुमार बीच में पड़ सकता था (आपस्तम्ब २, १०, २७, २०)

वशिष्ट कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य किसी आततांई अर्थात् किसी घर जलानेवाले, किसी कैदी किसी ऐसे मनुष्य से जो कि प्राण लेने के लिये अपने हाथ में शस्त्रलिए हो, किसी लुटेरे अथवा किसी ऐसे मनुष्य से जिसने कि किसी दूसरे की भूमि ले ली हो वा किसी की स्त्री छीन ली हो आक्रमण किया जाय तो वह आत्मरक्षा कर सकता है। यदि कोई आततांई किसी मनुष्य का प्राण लेने के लिये आवे तो उस मनुष्य को अधिकार है कि वह उसे मार डाले चाहे वह "समस्त वेदों और उपनिषदों का जाननेवाला" क्यों न हो। (वशिष्ट ३, १५-१८)

खेती और व्यापार लोगों की जीविका थी और खेती करनेवाले की भूमिसे अथवा किसी शिल्पकार के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले दोषियों को सब से अधिक कठोरता के साथ दण्ड दिया जाता था। हम दिखला चुके हैं कि भूमि की रक्षा करनी उन अवस्थाओं में से थी जिसमें कि आत्मरक्षा की जा सकती थी और भूमि के विषय में झूठी गवाही अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखी जाती थी। किसी छोटे जानवर के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से साक्षी देनेवाला दस मनुष्यों के मारने के अपराध का भागी होता था। गाय, घोड़े वा मनुष्यों के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह क्रमात् एक सौ, एक हजार वा दस हजार मनुष्यों के मारने के अपराधी के बराबर होता था परन्तु भूमि के सम्बन्ध में झूठी साक्षी देने से वह समस्त मनुष्य जाति को मारडालने के अपराधी के बराबर होता था। "भूमि की चोरी के लिये नर्क का दण्ड होता है।" (गौतम १३, १४, १७,)

इसी प्रकार शिल्पकारों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि जो मनुष्य किसी शिल्पकार की आंख फोड़ डाले या हाथ काट डाले उसे प्राण दण्ड होता था। जो मनुष्य आत्महत्या करना चाहता था उसके लिये एक कठोर प्रायश्चित नियत था और आत्म-हत्या करनेवाले के सम्बन्धियों के लिये उसकी अंत्येष्टिक्रिया करना वर्जित था (वशिष्ट २३, १४, इत्यादि)

दो हजार वर्ष पूर्व हिन्दुओं का दण्डक्रम इस प्रकार का था। अब हम दीवानी कानून के पेचीले विषय का वर्णन करेंगे जोकि सुगमता से पांच भागों में बांटा जा सकता है अर्थात (१) खेती और चराई के कानून (२) सम्पत्ति के कानून (३) अधिक व्याज खाने के कानून (४) उत्तराधिकारी होने के अत्यन्त आवश्यक कानून और (५) बटवारे के कानून। हम खेती और चराई के नियमों से आरम्भ करते हैं।

(१) "यदि कोई मनुष्य किसी भूमि का ठीका ले और उसमें यत्न न करे और उसके कारण भूमि में अन्न न उपजे तो यदि वह मनुष्य अमीर हो तो उससे उतने अन्न का मूल्य ले लिया जायगा जो उस भूमि में उपज सकता था।

(२) "खेती के काम में जो नौकर रक्खा जाय वह यदि अपना काम छोड़ दे तो उसे कोड़े लगाए जांयगे।

(३) "यही दण्ड उस चरवाहे को दिया जायगा जो अपना काम छोड़ देगा।

(४) "और जिन पशुओं की रखवारी उसके सपुर्द होगी वे ले लिए जांयगे।

(५) "यदि पशु अपना तबेला छोड़ कर किसी का अन्न खाजाय तो अन्न का मालिक उन्हें हाते में बन्द रख कर दुर्बल कर सकता है परन्तु इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता।

(६) "यदि कोई चरवाहा जिसने अपने जिम्मे कुछ पशुओं को लिया हो उन पशुओं को नष्ट हो जाने या खो जाने दे तो उसे पशुओं के स्वामी को उनके पलटे दूसरे पशु देने पड़ेंगे।

(७) "यदि (राजा का बनरखा) ऐसे पशुओं को देखे कि जो असावधानी से जंगल में चले गए हों तो वह उन्हें गांव में लाकर उनके स्वामियों को दे देगा। (आपस्तम्ब २, ११, २८)

फिर गौतम कहते हैं।

(१९) "यदि पशु कुछ हानि करें तो उनका दोष उनके मालिक

पर होता है।

(२०) " परन्तु यदि उन पशुओं के साथ कोई चरवाहा हो तो वही उसका उत्तरदाता होगा ।

(२१) " यदि किसी सड़क के निकट बिना घिरे हुए खेत में यह हानि हो तो उसका उत्तरदाता चरवाहा और उस खेत का स्वामी दोनों ही होंगे " । (गौतम १२)

आज कल की भांति उस समय भी बिना घिरे हुए खेत पशुओं को चराने और लकड़ी काटने के लिये साधारणतः काम में आते थे।

"यदि खेत घिरा न हो तो वह उनमें से गऊ के लिये घास,अपनी अग्नि जलाने के लिये लकड़ी, तथा पेड़ और लताओं के फूल और फल ले सकता है, (गौतम १२, २८)

वसिष्ठ मार्ग के हक्क और अचल सम्पत्ति के विषय के झगड़ों में आवश्यक गवाही के लिये उचित नियम देते हैं ।

(१०) " स्मृति में सम्पत्ति के अधिकार के लिये तीन प्रकार के प्रमाण लिखे हैं अर्थात् दस्तावेज़ गवाही और कब्ज़ा । इन प्रमाणों से कोई मनुष्य उस सम्पत्ति को फिर से पा सकता है जो कि पहिले उसके अधिकार में रही हो।

" जिन खेतों में मार्ग का हक होता है उनमें सड़क के लिये आवश्यक जगह और इसी प्रकार गाड़ी घूमने के लिये जगह भी छोड़ देनी चाहिए।

(१२)" नए बने हुए मकानों और इसी प्रकार की अन्य इमारतों के निकट तीन फुट चौड़ा रास्ता होना चाहिए।

(१३) " किसी घर या खेत के विषय के झगड़े में पड़ोसियों की साक्षी पर विश्वास करना चाहिए।

(१४)" यदि पड़ोसियों की गवाही एक दूसरे के विरुद्ध हो तो कागज़ पत्र को प्रमाण मानना चाहिए।

(१५) "यदि कागज पत्र झगड़े के हों तो गांव या नगर के वृद्ध लोगों और शिल्पकारों या व्यापारियों की पंचायतों की सम्मति पर भरोसा करना चाहिए। (वसिष्ठ १६)

और अब हम सम्पत्ति के कानून के विषय में लिखेंगे । सम्पत्ति नीचे लिखे अनुसार आठ प्रकार की कही गई है।

(१६) " अब वे इसको भी उद्धृत करते हैं 'पिता से मिली हुई सम्पत्ति, मोल ली हुई वस्तु, गिरों की सम्पत्ति, वह सम्पत्ति जो

विवाह के उपरान्त स्त्री को अपने पति के घराने से मिलती है, दान की सम्पत्ति जो सम्पत्ति यज्ञ करने के लिये मिली हो, पुनर्संम्मिलित साझीदारों की सम्पत्ति और आठवें मजदूरी,

(१७) "इन आठों प्रकार की सम्पत्तियों में से किसी को भी यदि कोई दूसरा मनुष्य लगातार १० वर्षों तक भोगे तो उसका मालिक फिर उसे नहीं पासकता।

(१८) "दूसरे दल के लोग भी निम्न लिखित वाक्य उद्धृत करते हैं 'गिरो की वस्तु, सीमा, नावालिग की सम्पत्ति, (खुली हुई) धरोहर, मोहर की हुई धरोहर, स्त्री, राजा की सम्पत्ति, श्रोत्रीय का धन, यह सब दूसरों से भोगे जाने पर भी उनका नहीं हो जाता।

(१९) "जिस सम्पत्ति को उसका मालिक बिलकुल छोड़ दे वह राजा की होती है (वसिष्ठ १६)

गौतम भी इसी प्रकार का नियम लिखते हैं:—

(३७) "जो मनुष्य न तो पागल हो और न नाबालिग, उसकी सम्पत्ति यदि उसके सामने दूसरा कोई मनुष्य भोगे तो वह सम्पत्ति भोग करनेवाले की हो जाती है।

(३८) "परन्तु यदि वह श्रोत्रियों सन्यासियों वा राज्यकर्मचारियों से भोगी जाय तो ऐसा नहीं होता।

(३९) "पशु, भूमि, और स्त्रियों के दूसरों के अधिकार में रहने से भी उन पर उनके मालिक का स्वत्व छूट नहीं जाता" (गौतम १२)

उपरोक्त वाक्यों में स्त्रियों से दासियों का अर्थ है। नावालिगों और विधवाओं इत्यादि के विषय में यह नियम है कि राजा उनकी सम्पत्ति का प्रबन्ध करे और नावालिग के बालिग होने पर उसकी सम्पत्ति उसे देदे (वसिष्ठ १६. ८. ९)

अब हम भारतवर्ष के प्राचीन समय के अधिक व्याज के कानून को लिखेंगे। हमारे पाठकों में से बहुत से लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि वे उस कानून से बुरे नहीं थे जो कि केवल कुछ शताब्दी पहिले यूरप में प्रचलित थे। "रुपए उधार देनेवाले के लिये व्याज का दर वसिष्ठ के वाक्यों में सुनिए। बीस (कार्षापण) के लिये प्रतिमास पांच माशा लिया जा सकता है, और इससे नियम नहीं टूटता" (वसिष्ठ २, ५१)

इसी प्रकार गौतम कहते हैं (१२, २९)—

" जो रुपया उधार दिया जाय उसका उचित व्याज बीस (कार्षापण) के लिये प्रति मास पाँच माशा है।

भाष्यकार हरदत्त कार्षापण का व्याज बीस माशा कहते हैं जिससे कि व्याज का दर प्रति मास सवा रुपये सैकड़े या प्रति वर्ष पन्द्रह रुपये सैकड़े होता है। कृष्ण पंडित यह ठीक कहता है कि यह व्याज उस द्रव्य के लिये है जो वस्तु गीरों रख कर दिया जाय। मनु विशेषतः कहता है (८, १४०) कि यह व्याज वसिष्ठ का नियत किया हुआ है। गौतम कहता है कि जब मूल द्रव्य व्याज मिला कर दूना हो जाय तो उसके उपरान्त व्याज नहीं लगता और गिरों रक्खी हुई वस्तु का यदि भोग किया जाता हो तो उस रुपए का बिलकुल व्याज नहीं लगता। (१२, ३१ और ३२)

दूसरी वस्तुएं बहुत अधिक व्याज पर भी दी जा सकती हैं, पर उसी अवस्था में जब कि उसके पल्टे में कोई वस्तु गिरों न रक्खी गई हो।

(४४) 'सोना जितना उधार दिया जाय उसका दूना लिया जा सकता है और अन्न तिगुना लिया जा सकता है।

(४५) "स्वादिष्ट वस्तुओं के लिये भी अन्न का नियम कहा गया है।

(४६) " और फूल, कंद, और फल के लिये भी।

(४७) " जो वस्तुएँ तौल कर बिकती हैं उनको उधार दे कर उनका अठगुना ले सकते हैं।

इसी प्रकार गौतम कहते हैं—

"पशु, जात वस्तुएं, ऊन, खेत की पैदावार और बोझा ढोनेवाले पशुओं को उधार दे कर उनके पचगुने मूल्य से अधिक नहीं लिया जा सकता। (गौतम १२, ३६)

इस प्रकार वस्तु गिरों रख कर द्रव्य उधार देने के अतिरिक्त अन्य वस्तु और पैदावार, उनके पलटे में बिना कोई वस्तु गिरों रक्खे हुए, बड़े अधिक सूद पर उधार दिए जाते थे। द्रव्य की अवस्था में व्याज केवल पन्द्रह रुपए सैकड़े वार्षिक था और वह मूल धन से केवल दूना हो सकता था, परन्तु अन्य अवस्थाओं में वह छगुना या आठगुना तक हो सकता था।

गौतम छ भिन्न भिन्न प्रकार के व्याज लिखता है अर्थात् व्याज दर व्याज, समय समय पर दिए जानेवाला व्याज, संन्धेज किया हुआ

ब्याज, शारीरक ब्याज, दैनिक ब्याज और भोगबन्धक ब्याज (१२, ३४० और ३५)। वह कहता कि मृत पुरुष के उत्तराधिकारी को उसका देना चुकाना चाहिए परन्तु किसी जमानत का द्रव्य,व्यापार सम्बन्धी ऋण, दुलहिन के माता पिता का द्रव्य, अधर्म के लिये ऋण और दण्ड का द्रव्य मृतक के लड़कों को नहीं देना पड़ेगा। (१२, ४० और ४१)।

और अब हम दीवानी कानून की सब से आवश्यक बात अर्थात् उत्तराधिकारी होने के कानून का उल्लेख करेंगे।

प्राचीन हिन्दू लोग पुत्र सन्तान का होना धर्म्म की बात समझते थे और इस कारण अपना पुत्र न होने पर प्राचीन समय में और प्रकार के पुत्र माने जाते थे।

निम्नलिखित वाक्यों में गौतम ने भिन्न भिन्न प्रकार के उन पुत्रों का वर्णन किया है जिन्हें कि वह उत्तराधिकारी समझता था और ऐसों का जिन्हें उत्तराधिकारी नहीं वरन् केवल वंशज समझता था—

(३२) "अपना पुत्र (औरस), अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज), गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक), माना हुआ पुत्र (कृत्रिम) गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूढज) और त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध), सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है।

(३३) "अविवाहिता बालिका का पुत्र (कानीन), गर्भवती दुलहिन का पुत्र (सहोध), दो बेर विवाहिता स्त्री का पुत्र (पौनर्भव) नियुक्त कन्या का पुत्र (पुत्रिका पुत्र) स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयं दत्त), और मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) अपने वंश का होता है।" (२८)

" बौद्धायन और वसिष्ठ गौतम के बहुत पीछे हुए और उनकी सम्मतियां गौतम से तथा एक दूसरे से कुछ बातों में भिन्न हैं।

(१४) "जिस पुत्र को पति अपनी जाति की विवाहिता स्त्री से उत्पन्न करै वह अपना निज का पुत्र होता है (औरस),

(१५) "पुत्री को नियुक्त करने के पीछे उस से जो पुत्र उत्पन्न हो वह नियुक्त पुत्री का पुत्र (पुत्रीकापुत्र) होता है।

(१७) 'किसी मृत मनुष्य, किसी हिजड़े, वा किसी रोगी मनुष्य की स्त्री से यदि कोई दूसरा मनुष्य अनुमति ले कर पुत्र उत्पन्न करे तो वह स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (क्षेत्रज) कहलाता है।

(२०) "गोद लिया हुआ पुत्र (दत्तक) वह कहलाता है जिसे

कोई मनुष्य उस के माता पिता वा उनमें से किसी एक से ले कर अपने पुत्र के स्थान पर रखें।

(२१) "वह बनाया हुआ पुत्र (कृत्रिम) कहलाता है जिसे कोई मनुष्य केवल (उस पुत्र की) सम्मति से अपना पुत्र बनावे और वह उसी की जाति का हो।

(२२) "गुप्त रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र (गूधज) वह कहलाता है जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो और उसका उत्पन्न होना पीछे से विदित हो।

(२३) "त्यागा हुआ पुत्र (अपविद्ध) वह कहलाता है जिसे उस के पिता वा माता ने वा उन में से किसी एक ने त्याग दिया हो और उसे कोई अपने पुत्र की भांति रख ले।

(२४) "यदि कोई मनुष्य किसी अविवाहिता कन्या के साथ (उसके पिता वा माता की) आज्ञा के बिना रहे तो ऐसी कन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) कहलाता है।

(२५) "यदि कोई जान कर वा बिना जाने किसी गर्भवती दुलहिन से विवाह करे तो उससे उत्पन्न हुआ पुत्र दुलहिन के साथ लिया हुआ (सहोढ) कहलाता है।

(२६) "मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) वह कहलाता है जिसे कोई मनुष्य उसके पित माता वा उन में से किसी एक से मोल ले कर अपने पुत्र की भांति रक्खे।

(२७) "स्त्री के दूसरे विवाह का पुत्र (पौनर्भव) वह कहलाता है जो किसी स्त्री के दूसरे विवाह से अर्थात् जिस स्त्री ने अयोग्य पुरुष को छोड़ कर दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया हो उससे उत्पन्न हुआ हो।

(२८) "स्वयं दिया हुआ पुत्र (स्वयंदत्त) वह कहलाता है जिसे उसके माता पिता ने त्याग दिया हो और वह किसी दूसरे के यहां अपने को स्वयं दे दे।

(२९) "वह जो प्रथम द्विज जाति के मनुष्य और किसी शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हो निषाद कहलाता है।

(३०) "जो एक ही माता पिता से कामासक्त होने के कारण उत्पन्न हो वह पारसव कहलाता है..." (बौद्धायन २, २, ३,)।

उसके उपरान्त बौद्धायन कुछ वाक्यों को उद्धृत करते हैं जिस से विदित होता है कि उपरोक्त चौदह प्रकार के पुत्रों में से

प्रथम सात प्रकार के पुत्र अर्थात् औरस, पुत्रिकापुत्र क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूधज, और अपविद्ध उत्तराधिकारी हो सकते थे उनके आगे के छ प्रकार के पुत्र अर्थात् कानीन, सहोध, क्रीत, पौनर्भव, स्वयं दत्त और निषाद वंशज समझे जाते थे। पार्सव वंशज भी नहीं समझा जाता था।

गौतम की नाईं वसिष्ठ बारह प्रकार के पुत्र लिखते हैं।

(१२) "प्राचीन लोगों ने केवल बारह प्रकार के पुत्र माने हैं।

(१३) "पहिला पुत्र स्वयं पति द्वारा उसकी विवाहिता स्त्री से होता है (औरस)।

(१४) "दूसरा पुत्र वह है जो उस स्त्री वा विधवा से उत्पन्न किया जाय जिसे औरस पुत्र न होने के कारण पुत्र उत्पन्न करने का अधिकार प्राप्त हो (क्षेत्रज)।

(१५) "तीसरा पुत्र नियत की हुई पुत्री (पुत्रिका पुत्र) है।

(१६) "वेदों में यह कहा है कि 'वह कन्या जिसको कोई भाई न हो (अपने वंश के) पुरुष पुरखों में आ जाती है, और इस प्रकार वह उनके लड़के के समान हो जाती है *।

(१७) "इसके सम्बन्ध में एक वाक्य है (जिसे पिता अपनी पुत्री को नियत करते समय कहता है) मैं तुझे एक बिना भाई की कन्या आभूषणों से सज्जित देता हूं। उससे जो पुत्र हो वह मेरा पुत्र होगा।

(१८) "चौथा विधवा के पुनर्विवाह का पुत्र (पौनर्भव) होता है।

(१९) "पुनर्विवाहिता स्त्री (पुनर्भ) वह कहलाती है जोकि

---

* "वसिष्ठ यहां पर नियुक्त कन्या को जो पुत्र कहता है यह अद्भुत बात कदाचित् उस रीति से विदित होगी जोकि अब तक भी काश्मीर में पाई जाती है यद्यपि उस का प्रचार अब बहुत कम है तथापि वह है। उस रीति के अनुसार बिना भाई की कन्या का पुरुष का नाम रक्खा जाता है। और इस प्रकार की एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन राजतरंगिणी में दिया है। उसमें लिखा है कि गौड़ की राजकुमारी और जयापीड़ राजा की स्त्री कल्याणदेवी को उसके पिता कल्याणमल्ल कह कर पुकारते थे"---डाक्टर बुहलर।

अपनी बाल्यावस्था के पति को छोड़ कर और दूसरों के साथ रह कर, फिर अपने वंश में आवे।

(२०) "और वह पुनर्विवाहिता कहलाती है जो नपुंसक, जाति से निकाले हुए, वा पागल पति को छोड़ कर अथवा पति की मृत्यु के उपरान्त दूसरा पति करे*।

(२१) "पांचवां अविवाहिता कन्या का पुत्र (कानीन) होता है।

(२४) "वह पुत्र जो घर में गुप्त रीति से उत्पन्न हो छठां (गूढज) है।

(२५) "लोग कहते हैं कि ये छओ उत्तराधिकारि और वंशज हैं जो कि बड़ी आपत्तियों से रक्षा करनेवाले हैं।

(२६) "अब उन पुत्रों में जो कि उत्तराधिकारी नहीं हैं परन्तु वंशज हैं पहिला पुत्र वह है जो कि गर्भवती दुलहिन के साथ आया (सहोढ़) हो।

(२८) "दूसरा गोद लिया हुआ पुत्र (दत्त) है।

(२९) "तीसरा मोल लिया हुआ पुत्र (क्रीत) है।

(३३) "चौथा पुत्र वह है जिसने अपने को स्वयं दिया हो (स्वयंदत्त)

(३६) "पांचवां निकाला हुआ पुत्र (अपविद्ध) है।

(३८) "लोग कहते हैं कि शूद्र जाति की स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र (निषाद) छठां है (वसिष्ठ १७)

वसिष्ठ के अनुसार उपरोक्त छओ प्रकार के पुत्र उत्तराधिकारी नहीं हो सकते परन्तु वह एक वाक्य उद्धृत करता है कि "जब प्रथम छओं प्रकार का कोई उत्तराधिकारी न हो उस अवस्था में उनको उत्तराधिकार प्राप्त करने का" अधिकार होगा। गौतम, वसिष्ठ, और बौधायन के नियम इस भांति दिखलाए जा सकते हैं।

* इस वाक्य में वे अवस्थाएं लिखी हैं जिनमें कि स्त्री का दूसरा विवाह किया जा सकता था। वे अवस्थाएं ये हैं अर्थात् पति का पागलपन, नपुंसकता, जाति से निकाला जाना, अथवा मृत्यु। इस प्रकार की पुनर्विवाहिता स्त्री के पुत्र को उत्तराधिकार मिलने के लिये वसिष्ठ आज्ञा देते हैं।

	गौतम।	वसिष्ठ।	बौधायन।
वंशज और उत्तराधिकारी	१ औरस	१ औरस	१ औरस
	२ क्षेत्रज	२ क्षेत्रज	२ पुत्रिकापुत्र
	३ दत्त	३ पुत्रिकापुत्र	३ क्षेत्रज
	४ कृत्रिम	४ पौनर्भव	४ दत्त
	५ गूधज	५ कानीन	५ कृत्रिम
	६ अपविद्ध	६ गूधज	६ गूधज
			७ अपविद्ध
वंशज पर उत्तराधिकारी नहीं	७ कानीन	७ सहोध	८ कानीन
	८ सहोध	८ दत्त	९ सहोध
	९ पौनर्भव	९ क्रीत	१० क्रीत
	१० पुत्रिकापुत्र	१० स्वयंदत्त	११ पौनर्भव
	११ स्वयंदत्त	११ अपविद्ध	१२ स्वयंदत्त
	१२ क्रीत	१२ निषाद	१३ निषाद
न वंशज और न उत्तराधिकारी	,,	,,	१४ पारशव

परन्तु शीघ्र ही अपने से उत्पन्न हुए तथा दूसरे से उत्पन्न हुए पुत्रों को मानने का [illegible] होना मृत्यु के पीछे नर्क के कष्ट से बचने के लिये भी, आरम्भ हो गया। आपस्तम्ब जो बौधायन के एक शताब्दी पीछे हुआ, भिन्न भिन्न प्रकार के पुत्रों और उत्तराधिकारियों का विरोध करता है और कहता है कि प्राचीन समय में जो बातें की जाती थीं वे आज कल के पापी मनुष्यों में नहीं की जा सकतीं।

(१) "जो मनुष्य ठीक समय में अपने जाति की उस स्त्री के पास जाता है जो कि किसी दूसरे मनुष्य की न रही हो और जिस से उसने नियमानुसार विवाह किया हो तो उससे जो पुत्र उत्पन्न हों वे (अपनी जाति का) व्यवसाय करने के अधिकारी हैं।

(२) "और सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होने के भी।

(८) "प्राचीन समय के लोगों में इस नियम का उल्लंघन भी पाया जाता है।

(९) "वे लोग अपने बड़े प्रताप के कारण पाप के भागी नहीं होते थे।

(१०) "आज कल का जो मनुष्य उनकी बातों को ले कर उनका अनुकरण करैगा, वह पतित होगा।

(११) "किसी लड़के का दान (वा स्वीकार करना) और उस को बेचना (वा मोल लेना) व्यवहार के अनुसार नहीं है"। (आपस्तम्ब २, ६, १३) एक दूसरे स्थान पर आपस्तम्ब कहता है कि—

(२) "किसी सभ्य (पति) को अपनी (स्त्री) को अपने कुटुम्ब को छोड़ कर, दूसरे किसी को अपने लिये पुत्र उत्पन्न करने के प्रयोजन से नहीं देनी चाहिये।

"क्योंकि लोग कहते हैं कि दुलहिन वंश को दी जाती है।

(४) "इस बात का (आजकल) मनुष्यों की इंद्रियों की निर्बलता के कारण निषेध किया गया है।

(५) "नियम के अनुसार पति को छोड़ कर किसी सभ्य वा दूसरे मनुष्य का हाथ अज्ञात पुरुष की भांति समझना चाहिये।

(६) "यदि विवाह के समय की प्रतिज्ञा भंग की जाय तो पति और पत्नी दोनों निस्संदेह नर्क को जाते हैं"। (आपस्तम्ब २, १०, २७)

इस प्रकार आपस्तम्ब केवल नियोग अर्थात् पुत्र उत्पन्न करने के लिये स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ नियुक्त करने ही का निषेध नहीं करता वरन् वह पुत्र के गोद लेने वा मोल लेने का भी निषेध करता है। आज कल हिन्दू लोग केवल अपने पुत्र को और अपना पुत्र न होने की अवस्था में गोद लिये हुए पुत्र को छोड़ कर और किसी प्रकार के पुत्र को नहीं मानते।

और अन्त में हम बटवारे के कानून का उल्लेख करैंगे। भाइयों में संपत्ति के बांटने के सम्बन्ध में भी मतभेद है। ज्येष्ठता का नियम भारतवर्ष में कभी नहीं रहा वरन् जब तक कुटुम्ब के एक में रहने की रीति प्रचलित थी तब तक सब से ज्येष्ठ पुत्र अपने पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था और पिता की भांति सब का पालन करता था। परन्तु यह विदित होता है कि समस्त कुटुम्ब के मिल कर बड़े भाई के आधीन रहने की रीति भारतवर्ष में सदा से नहीं रही है और जिन सूत्रकारों के ग्रन्थ अब तक वर्तमान हैं उनमें से सब से प्राचीन सूत्रकार गौतम कहता है कि भाइयों में बटवारा हो जाना बहुत अच्छा है क्योंकि "बटवारा होने से आत्मीय योग्यता की वृद्धि होती है"। (२८,४)

गौतम के अनुसार सब से बड़े पुत्र को संपत्ति का बीसवाँ भाग, कुछ पशु और एक गाड़ी उसके हिस्से के अतिरिक्त मिलनी चाहिए। बिचले लड़के को कुछ घटिहाँ पशु और सब से छोटे को भेड़ी, अन्न, वर्तन, मकान, छकड़ा और कुछ पशु, मिलने चाहिएं और शेष संपत्ति बराबर बराबर बांट ली जानी चाहिए। अथवा वह सब से बड़े पुत्र को दो हिस्से और शेष पुत्रों को एक एक हिस्सा लेने को कहता है। अथवा वह उन में से प्रत्येक को उन की बड़ाई के अनुसार अपने इच्छानुकूल एक एक प्रकार की संपत्ति लेने देता है अथवा उन की माता सब के लिये विशेष हिस्सा कर दे सकती है। (२८, ५—१७)

वसिष्ठ सब से बड़े भाई को दो हिस्सा और कुछ गाय और घोड़े दिलवाता है, सबसे छोटे को बकरे, भेड़ी और मकान दिलवाता है और बिचले को बरतन और असबाब दिलवाता है। और यदि ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य स्त्रियों से पुत्र उत्पन्न हुए हों तो वह पहिले को तीन भाग, दूसरे को दो भाग, और तीसरे अर्थात् वैश्य स्त्री के पुत्र को एक भाग दिलवाता है (१७, ४२—५०)

बौधायन सब पुत्रों को बराबर बराबर भाग अथवा सब से बड़े पुत्र को अपने भाग के अतिरिक्त संपत्ति का दसवाँ हिस्सा अधिक दिलवाता है। जब भिन्न भिन्न जातियों की स्त्रियों से पुत्र हुए हों तो जाति के क्रम के अनुसार वह उन्हें चार, तीन, दो, और एक भाग दिलवाता है (२, २, ३, २—१०)

आपस्तम्ब की सम्मति इस बात में भी अपने पूर्वजों से भिन्न है और वह संपत्ति के कमती बढ़ती भाग करने के विरुद्ध है। वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठता देने की सम्मति उद्धृत करता है, जिन बातों पर वे सम्मतियां दी गई हैं उन पर वादानुवाद करता है और कहता है कि उनमें केवल घटनाओं का उल्लेख है, नियमों का नहीं, और इस लिये वह ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठता देने में सहमत नहीं है। जो पुत्र धार्मिक हों वे सब संपत्ति के उत्तराधिकारी हैं परन्तु वह जो अधर्म में रुपया व्यय करता हो संपत्ति नहीं पासकता, चाहे वह ज्येष्ठ पुत्र क्यों न हो। (२, ६, १४, १—१) स्त्री की संपत्ति अर्थात् जो आभूषण इत्यादि उसे व्याह के समय मिलते थे उन की उत्तराधिकारिणी उसी की लड़कियाँ होती थीं (गौतम, २८, २४; वसिष्ठ, १७, ४६; बौधायन, २, ३, ४३).

दार्शनिक काल में ऐसे कानून थे। उनसे इस समय तथा ऐतिहासिक काव्य के समय का महान् अन्तर निस्सन्देह प्रगट होता है और दार्शनिक काल की सभ्यता शिक्षा और पेचीले विषयों में इस काल की प्रायोगिक रीति प्रगट होती है। ऐतिहासिक काव्य काल में जो बातें गड़बड़ थीं वे इस समय में ठीक और नियमबद्ध की गईं, जो बातें विस्तृत रूप में थीं वे संक्षिप्त की गईं और जो बातें स्पष्ट और अनिश्चित थीं वे प्रायोगिक रीति पर लाई गईं। दीवानी और फौज़दारी के मुकद्दमे अब विद्वानों और पुजेरियों की भिन्न भिन्न और अस्पष्ट सम्मतियों के द्वारा निर्णय नहीं किए जाते थे वरन् उन की सम्मतियां सुधारी जा कर और संक्षिप्त बनाई जाकर स्मृति की पुस्तकों के रूप में लाई गई थीं और उन के अनुसार विद्वान लोग न्याय करते थे। जाति के नियम, जो कि ऐतिहासिक काव्य काल तक भी कामल थे, वे अधिक कठोर और दार्शनिक काल के अभंग नियमों के अनुकूल बनाए गए और समस्त हिन्दू समाज का भी वैसा ही कठोर नियम बना। हम अगले दोनों अध्यायों में इन दोनों विषयों का वर्णन करेंगे और तब यह दिखलावेंगे कि विज्ञान और दर्शनशास्त्र की भी ऐसी ही दशा हुई।

अध्याय ६

जाति।

जातिभेद के कठोर नियम बनाने में उस समय के सूत्रकारों को बड़ी कठिनाई पड़ी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि पहिले पहिल मनुष्यों की चार जातियां थीं अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। परन्तु अब उनके समय में बहुत सी दूसरी दूसरी जातियां हो गई थीं अर्थात् जिन अनार्य लोगों ने हिन्दू होना स्वीकार कर लिया था उनमें से प्रत्येक की जुदी जुदी हिन्दू जातियां हो गईं। अब ये नई जातियां कहां से आईं और उनकी उत्पत्ति का क्या कारण है? सूत्रकारों ने यह मान कर कि समस्त मनुष्य जाति में पहिले केवल चार ही जातियां थीं। इन नई जातियों को उन्हीं चार मुख्य जातियों में से निकालने का यत्न किया। तब इस अद्भुत कथा की कल्पना की गई कि ये नई जातियां चारों मुख्य जाति में परस्पर विवाह होने के कारण उत्पन्न हुई हैं। यह कहना वैसा ही है जैसा कि

पांचवीं शताब्दी का कोई यूनानी पुरोहित यह कहे कि रोमन लोगों के पार्थियन स्त्रियों से विवाह करने के कारण हम लोगों की उत्पत्ति हुई, अथवा तेरहवीं शताब्दी का कोई पादरी यह कहे कि मोगलों की उत्पत्ति यूनानी बेरन लोगों के चीन देश की स्त्रियों से विवाह करने के कारण हुई। ऐसे कल्पित सिद्धान्त चाहे अज्ञानता के समय में भले ही स्वीकार कर लिए जाँय परन्तु ज्ञान की वृद्धि होने के साथ उनका लोप हो जायगा परन्तु भारतवर्ष में जहां कि लोगों की विद्या धीरे धीरे कम होती गई है इन सिद्धान्तों को पीछे के समय के सब लेखक बराबर मानते गए और उन पर आज तक भी भारतवर्ष में विश्वास किया जाता है।

वसिष्ठ कहते हैं कि—

(१) "लोग कहते हैं कि शूद्र पुरुष से ब्राह्मण जाति की स्त्री को जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(२) "क्षत्री जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का जो पुत्र हो वह वैन होता है।

(३) "वैश्य जाति की स्त्री से शूद्र पुरुष का पुत्र अन्त्यावसायिन होता है।

(४) "वे कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से वैश्य का जो पुत्र उत्पन्न हो वह रामक होता है।

(५) "क्षत्रीय जाति की स्त्री से उसका (वैश्य का) जो पुत्र उत्पन्न हो वह पौलकश होता है।

(६) "लोग कहते हैं कि ब्राह्मण जाति की स्त्री से क्षत्रिय का जो पुत्र उत्पन्न हो वह सूत होता है।

(८) "ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य पुरुषों को अपने से नीचे की पहिली, दूसरी और तीसरी जातियों की स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् अम्बष्ठ, उग्र, और निषाद होते हैं।

(९) "ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से जो पुत्र हो वह पार्सव होता है"। (वसिष्ठ, १८)

बौधायन का इस विषय में कुछ मतभेद है।

(३) "ब्राह्मण का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह ब्राह्मण होता है, वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह अम्बष्ठ होता है और शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह निषाद होता है।

(४) " किसी किसी के मत के अनुसार वह पारसव होता है।

(५) " क्षत्रिय का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह क्षत्री, और शूद्र स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह उग्र होता है।

(६) " वैश्य का शूद्र जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह रथकार होता है।

(७) " शूद्र का वैश्य जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह मागध, क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ क्षत्री, परन्तु ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह चाण्डाल होता है।

(८) " वैश्य का क्षत्रिय जाति की स्त्री के साथ जो पुत्र हो वह आयोगव, और ब्राह्मण जाति की स्त्री के साथ सूत होता है।" और इसी प्रकार उग्र पिता और क्षत्री माता से स्वपाक, वैदेहक पिता और अम्बष्ठ माता से वैन, निषाद पिता और शूद्र माता से पौलकश, शूद्र पिता और निषाद माता से कुक्कुटक होता है। और " पण्डित लोग कहते हैं कि दो जातियों के सम्मेल से जो उत्पन्न हों वे व्रात्य कहलाते हैं"। (बौद्धायन १, ६, १७)

गौतम ने जो लिखा है वह समझ में आने के योग्य तथा संक्षिप्त है और हम उसे नीचे उद्धृत करेंगे—

(१६) "उच्च जाति की उससे नीचे की पहिली, दूसरी वा तीसरी जाति से जो सन्तति हो वह क्रमात् सवर्ण अर्थात् बराबर की जाति, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौश्यंत और पारसव होती है।

(१७) "उलटे क्रम से (उच्च जातियों की स्त्रियों से) जो पुत्र उत्पन्न हों वे सूत, मागध, आयोगव, क्षत्री, वैदेहक और चाण्डाल होते हैं।

(१८) "कुछ लोगों का मत है कि ब्राह्मण जाति की स्त्री को चारो जाति के पुरुषों के साथ जो पुत्र हों वे क्रमात् ब्राह्मण, सूत, मागध और चाण्डाल होते हैं।

(१९) "और उसी भांति क्षत्री स्त्रीको उन से जो पुत्र उत्पन्न हों वे क्रमात् मूर्द्धाभिसिक्त, क्षत्रिय, धीवर और पौलकस होते हैं।

(२०) "और वैश्य जाति की स्त्री को उनसे जो पुत्र हों वे भृज्जकंठ माहिष्य, वैश्य, और वैदेह होते हैं।

(२१) "और शूद्र जाति की स्त्री को उन से पारसव, यवन, करन, और शूद्र उत्पन्न होते हैं"। (गौतम, ४)

यहाँ हमने प्रामाणिक वाक्य उद्धृत किए हैं जिससे कि कट्टर

से कट्टर विश्वास करनेवाला भी डगमगा जाय । मागध और वैदेह जो कि भिन्न भिन्न जातियां थीं, चाण्डाल और पौलकस जो कि निस्सन्देह अनार्य जातियाँ थी और यवन भी जो कि ब्याक्ट्रिया के यूनानी लोग तथा अन्य विदेशी लोग थे, सब उसी एक कठोर नियम में लाए गए थे जिसके बाहर कोई नहीं समझा जाता था और उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य जातियों से कही गई है । और इसके उपरान्त जब अन्य विदेशी जातियों से हिन्दूओं का परिचय हुआ तो उनमें भी यही सिद्धान्त घटाया गया और मनु ने उन जातियों की भी उत्पत्ति उन्हीं चार मुख्य हिन्दू जातियों से कर डाली ।

परन्तु यह बात विलक्षण है कि उपरोक्त जातियों में जिनकी इस प्रकार उत्पत्ति बतलाई गई है, प्रायः सब ही आदि निवासी या विदेशी जाति के अथवा ऐसे आर्य्य लोग थे जो कि नास्तिकता और बौद्ध धर्म का अवलम्बन करने के कारण घृणा के पात्र बन गए थे । हम को उन में व्यवसाय की जातियों के यथा कायस्थ, वैद्य, सोनार लोहार, कुम्हार, तांती और आज कल की ऐसी ही अन्य जातियों के नाम नहीं मिलते । भारतवर्ष में प्राचीन समय में यदि ये व्यवसाय करने वाले भिन्न भिन्न जातियों में नहीं बँटे थे तो वे किस प्रकार जुदे समझे जाते थे ? इस का उत्तर सहज है । दार्शनिक काल में वैश्य जाति भिन्न भिन्न जातियों में नहीं बँटी थी और ये सब भिन्न भिन्न व्यवसाय करने वाले उसी एक जाति में सम्मिलित थे जो कि आज कल फूट कर कई जातियों में बँट गई हैं ।*प्राचीन समयमें आर्य्य वैश्य लोग भिन्न भिन्न व्यापार और व्यवसाय करते थे परन्तु उनकी जुदी जुदी जाति नहीं थी । वे लोग लेखक, वैद्य, सोनार, लोहार, कुम्हार और तांती का काम करते थे परन्तु फिर भी वे सब उसी एक वैश्य जाति के थे । इस प्रकार आर्य्य लोगों का बड़ा भाग अब तक भी एक में था और वे अब तक भी धार्मिक

*इसका एक उदाहरण बहुत होगा । बङ्गाल की वैद्य जाति दार्शनिक काल में नहीं थी परन्तु पीछे के समय में उन के लिये भी वही बात गढ़ी गई जैसा कि दार्शनिक काल में किया गया था । यह कल्पना की गई कि वैद्य लोग भी दो भिन्न भिन्न जातियों के स्त्री और पुरुष से

ज्ञान और विद्या पाने के अधिकारी थे। वेद का पाठ, यज्ञों का करना, और दान देना, यह सब द्विज जाति के लिये अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के लिये कहा गया है। ब्राह्मणों का विशेष कार्य्य यह था कि वे दूसरों के लिये यज्ञ करते थे और दान लेते थे। और वे खेती और व्यापार भी कर सकते थे, यदि वे उसमें अपने हाथों से कार्य्य न करें। (गौतम १०, ५) जातियों के विशेष अधिकारों से जो बुराइयां उत्पन्न हुई हैं वे दार्शनिक काल में ही प्रारंभ हो गई थीं, और ब्राह्मण लोगों ने, जिनका कि हाथ के परिश्रम से छुटकारा हो गया था, परिश्रमी जातियों के धन से खाना प्रारम्भ कर दिया था और वे उस विद्या को भी नहीं प्राप्त करते थे जिसके कारण कि परिश्रम से उनका छुटकारा होना ठीक समझा जाय। वसिष्ठ ने इस बुराई और अन्याय को असह्य समझा और आलसी मनुष्यों के पोषण किए जाने का ऐसी भाषा में विरोध किया है जो कि केवल ऐसे समय में लिखी जा सकती थी जब कि हिन्दूधर्म एक जीवित जाति का धर्म था।

(१) "जो (ब्राह्मण) लोग न तो वेद पढ़ते और न पढ़ाते हैं और न पवित्र अग्नि रखते हैं वे शूद्र के बराबर हो जाते हैं।

(४) "राजा को उस गांव को दण्ड देना चाहिये जहां ब्राह्मण लोग अपने पवित्र धर्म्म का पालन नहीं करते और वेद नहीं जानते और भिक्षा मांग कर रहते हैं, क्योंकि ऐसा गांव लुटेरों का पोषण करता है।

उत्पन्न हुए हैं। और फिर भी बुद्धि हमें यह कह देती है कि वे लोग आर्य जाति के एक भाग से अर्थात् वैश्यों से उत्पन्न हुए थे जिन्होंने कि अपने को वैद्यकशास्त्र में लगाया, ज्योंही कि यह शास्त्र विशेष ध्यान देने योग्य हुआ। और इस प्रकार कुछ समय में उन की एक जुदी जाति ही हो गई। बंगाल के वैद्य लोग जिस नाम से अब तक पुकारे जाते हैं उससे भी यह बात प्रमाणित होती है। सब वैद्य गुप्त (सेन गुप्त, दास गुप्त इत्यादि) होते हैं। अब सूत्रग्रन्थों में कई स्थान पर यह स्पष्ट लिखा है कि सब ब्राह्मण शर्म्मन् होते हैं, सब क्षत्री वर्म्मन् होते हैं और सब वैश्य गुप्त होते हैं। हम ऐसे वाक्य अगले अध्याय में उद्धृत करेंगे।

(६) "मूर्ख लोग अज्ञानता और पवित्र नियमों को न जानने के कारण जिस पाप को धर्म्म कहते हैं वह पाप उन लोगों के सिर पर सौ गुना हो कर गिरेगा जो लोग कि उसे धर्म्म बतलाते हैं।

(११) "लकड़ी का बना हुआ हाथी, चमड़े का बना हुआ हिरन और वेद न जाननेवाला ब्राह्मण ये तीनों केवल नाम मात्र के लिये अपनी जाति के हैं।

(१२) "जिस देश में मूर्ख लोग विद्वानों का धन खाते हैं उस देश में सूखा पड़ैगा अथवा कोई दूसरी बड़ी भारी अपत्ति पड़ैगी"। (वसिष्ट, ३)

क्षत्रिय लोगों का अपने कार्य्य के अतिरिक्त यह कर्तव्य था कि लड़ैं, विजय करैं, और राज्य करैं, रथ का प्रबन्ध करना और तीर चलाना सीखैं, और युद्ध में दृढ़ होकर खड़े रहैं और मुँह न मोड़ैं। (गौतम १०, १५ और १६) वैश्य लोगों का मुख्य कार्य्य व्यापार करना, खेती करना, पशु रखना, द्रव्य उधार देना और लाभ के लिये परिश्रम करना था (गौतम १०, ४६)। शूद्र लोगों का काम तीनों जातियों की सेवा करने का था परन्तु वे लोग धन उपार्जन करने के लिये परिश्रम भी कर सकते थे (गौतम १०, ४२) और इसमें कोई सन्देह नहीं कि दार्शनिक काल में तथा उसके पीछे के कालों में वे अधिकतर स्वतंत्र कार्य्य कर के द्रव्य उपार्जन और व्यापार करते थे, परन्तु शूद्रों को धर्म्म सम्बन्धी ज्ञान सीखना वर्जित था।

"अन्य लोग जैसा हमें देखते हैं उसी भांति हमें अपने को देखना चाहिए" इस से सदैव लाभ होता है और इस कारण हम अब यह देखैंगे कि विदेशी लोग जाति भेद को किस दृष्टि से देखते थे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि मेगास्थिनीज़ ने जिन सात जातियों का वर्णन किया है वे वास्तव में उपरोक्त चार जातियां ही हैं। उसने जिन दर्शनवेत्ताओं और उपदेशकों का वर्णन किया है वे ब्राह्मण थे जोकि धार्मिक अध्ययन में लगे हुए थे और जो राज्य में नौकर थे। उसने जिन खेती करनेवालों, गड़ेरियों और शिल्पकारों का वर्णन किया है वे वैश्य और शूद्र थे जोकि खेती चराई और दस्तकारी का कार्य्य करते थे। उसने जिन सिपाहियों का उल्लेख किया है वे क्षत्रिय थे और जिन ओवरसियरों का उल्लेख किया है वे केवल राजा के विशेष नौकर अर्थात् भेदिये थे।

इसके सिवाय मेगास्थिनीज़ दर्शनशास्त्रवेत्ताओं को दो भागों

में अर्थात् ब्राह्मणों वा गृहस्थों और श्रामनों अथवा सन्यासियों में बांटता है। ब्राह्मणों के विषय में वह कहता है कि "बालक लोग एक मनुष्य के उपरान्त दूसरे मनुष्य की रक्षा में रक्खे जाते हैं और ज्यों ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों त्यों उत्तरोत्तर पहिले वाले गुरु से अधिक योग्य गुरु पाते हैं। दर्शनशास्त्र जाननेवालों का निवास नगर के सामने किसी कुंज में एक साधारण लम्बे चौड़े घेरे में होता है। वे बड़ी सीधी सादी चाल से रहते हैं, फूस की चटाइयों वा मृगछालाओं पर सोते हैं। वे मांस और शारीरिक सुखों से परहेज़ करते हैं और अपना समय धार्मिक कथा वार्ता सुनने और ऐसे मनुष्यों को जो कि उनकी बातें सुने, ज्ञान उपदेश करने में व्यतीत करते हैं। ... सैंतीस वर्ष तक इस प्रकार रहने के उपरान्त प्रत्येक मनुष्य अपने सम्पत्तिस्थान को लौट आता है और वहां अपने शेष दिन शान्ति से व्यतीत करता है। तब वह उत्तम मलमल और अंगुलियों और कान में सोने के कुछ आभूषण पहिनता है और मांस खाता है परन्तु परिश्रम के काम में लगाए जाने वाले जानवरों का नहीं। वह गरम और अधिक मसालेदार भोजन से परहेज़ रखता है। वह जितनी स्त्रियों से इच्छा हो विवाह करता है, इस उद्देश्य से कि बहुत सी सन्तति उत्पन्न हो क्योंकि बहुत सी स्त्रियां होने के कारण अधिक लाभ होते हैं और चूंकि उसके गुलाम नहीं होते अतएव उसे अपनी सेवा कराने के लिये बालकों की अधिक आवश्यकता होती है।

श्रामनों वा सन्यासियों के विषय में मेगास्थिनीज़ कहता है कि "वे जंगलों में रहते हैं और वहां पेड़ों की पत्तियां और जंगली फल खाते हैं और वृक्षों की छाल के कपड़े पहिनते हैं। वे उन राजाओं से बात चीत रखते हैं जो कि दूतों के द्वारा भौतिक पदार्थों के विषय में उनकी सम्मति लेते हैं और जो उनके द्वारा देवताओं की पूजा और प्रार्थना करते हैं"। उनमें से कुछ लोग वैद्य का काम करते हैं और मेगास्थिनीज़ कहता है कि "औषधि विद्या को जानने के कारण वे विवाहों को फलदायक कर सकते हैं और सन्तान के पुरुष वा स्त्री होने का निर्णय कर सकते हैं। वे अधिक करके औषधियों द्वारा नहीं वरन् भोजन के प्रबन्ध द्वारा रोग को अच्छा करते हैं। उनकी सर्वोत्तम औषधियां मलहम और लेप हैं।" अन्य मार्गों से हमें जो बातें विदित होती हैं वैसे ही इस वृत्तान्त से भी विदित होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में गौतम बुद्ध के समय के पहिले और उसके

उपरान्त सन्यासी लोग रहते थे जो कि श्रामन कहलाते थे और कन्द और जंगली फल खाते थे। और जिस समय यह बड़ा सुधारक अपने धर्म के सार अर्थात् संसार से अलग होकर पवित्र जीवन व्यतीत करने, का उपदेश देता था तो उसके मतानुयायी लोग जो कि संसार से अलग हो कर रहते थे दूसरे सन्यासियों से अलग समझे जाने के लिये शाक्यपुत्रीय श्रामन अर्थात् शाक्य के मत का अनुकरण करनेवाले सन्यासी कहलाते थे।

दूसरे स्थान पर मेगास्थिनीज़ दर्शनशास्त्र जाननेवाली जाति के विषय में कहता है कि वे लोग सब "सर्वसाधारण के कामों से बचे रहने के कारण न तो किसी के मालिक और न किसी के नौकर थे। परन्तु लोग उन्हें 'अपने' जीवन समय के यज्ञ करने के लिये अथवा मृत मनुष्य की क्रिया करने के लिये नियुक्त करते थे। वे लोग एकत्रित भीड़ को वर्षा होने अथवा न होने के विषय में तथा लाभकारी हवाओं और रोगों के विषय में भविष्यतवाणी कहते थे।" इस प्रकार हम लोगों को दार्शनिक काल के ब्राह्मणों के जीवन का एक संक्षिप्त परन्तु उत्तम वृत्तान्त एक पक्षपात रहित विदेशी के द्वारा मिलता है। वे लोग बच्चों को धर्म सम्बन्धी शिक्षा देते थे, वे यज्ञों और मृतक की क्रियाओं को करवाते थे, गाँव के रहनेवालों और खेती करनेवालों को ऋतु और फसल के विषय में सम्मति देते थे और वे भिन्न भिन्न रोगों की औषधि भी देते थे। विशेष अवसरों पर राजा लोग उनकी सम्मति लेते थे और वे ब्राह्मण लोग जिन्हें कि मेगास्थिनीज़ एक जुदी जाति समझता है और जिन्हें वह उपदेशक कहता है राजाओं के राजकाज के सम्बन्ध में सम्मति देते थे, खजाना रखते थे और दीवानी और फौजदारी के मुकद्दमों का न्याय करते थे। पढ़े लिखे लोग धर्म सम्बन्धी बातों में उन की सम्मति और बड़े बड़े यज्ञों में उनकी सहायता लेते थे और खेती करने वाले पण्डितों से वर्ष भर का वृत्तान्त पूछते थे। जाति का पतन होने के साथ ही साथ जो जाति इस प्रकार सब लोगों से सम्मानित थी वह धीरे धीरे अपने विशेष अधिकारों को पूरे प्रकार से काम में लाने लगी और वह मिथ्या बातों के द्वारा उस श्रेष्ठता को दृढ़ करने का यत्न करने लगी जिसे कि उसने पहले पवित्रता और विद्या से प्राप्त किया था।

क्षत्रिय जाति के विषय में मेगास्थनीज़ बहुत संक्षिप्त

वृत्तान्त देता है। सिपाही लोग युद्ध के लिये तय्यार और सज्जित किए जाते थे परन्तु शान्ति के समय में वे आलस्य और तमाशे इत्यादि में लगे रहते थे। "सारी सेना' शस्त्रधारी सिपाही, युद्ध के घोड़े, युद्ध के हाथी इत्यादि सब का राजा के व्यय से पालन किया जाता है।" ओवरसियरों का यह धर्म्म था कि वे राज्य में सब बातों का पता लगावें और उन्हें राजा से कहें।

खेती करनेवालों, चरवाहों और शिल्पकारों के विषय में जो कि प्रत्यक्ष वैश्य और शूद्र जाति के थे, मेगास्थिनीज़ एक अधिक मनोरञ्जक और सच्चा वृत्तान्त देता है। खेती करनेवाले युद्ध तथा अन्य साधारण कामों से बचे रहने के कारण "अपना पूरा समय खेती करने में लगाते हैं और कोई शत्रु यदि खेती का काम करते हुए किसी किसान के पास आजाय तो वह उसे कोई हानि न पहुंचावेगा क्योंकि इस जाति के लोग सर्वसाधारण के लाभ करनेवाले समझे जाते हैं और इस कारण वे सब हानि से रक्षित हैं। इस प्रकार भूमि में कोई हानि न पहुंचने के कारण तथा उत्तम फसल होने के कारण लोगों को वे सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं जोकि जीवन को सुखी बनती हैं।.........
वे लोग राजा को भूमि का कर देते हैं क्योंकि सारा भारतवर्ष राजा की सम्पत्ति समझा जाता है और कोई मनुष्य भूमि का मालिक नहीं गिना जाता। भूमि के कर के सिवाय वे पैदावार का चौथाई भाग राजा के कोश में देते हैं*।" "चरवाहे लोग नगर अथवा गाँव में नहीं रहते परन्तु वे खेमों में रहते हैं†। वे लोग हानिकारक पक्षियों और जंगली जानवरों का शिकार कर के और उन को फंसा कर देश को साफ रखते हैं। शिल्पकारों में कुछ लोग शस्त्र बनानेवाले हैं और कुछ लोग उन औजारों को बनाते हैं जोकि खेती करनेवाले वा अन्य लोगों को उन के भिन्न भिन्न व्यवसाय में उपयोगी होते हैं। यह जाति केवल कर देने से ही छूटी नहीं है वरन् उसे राज्य से सहायता भी मिलती है।

---

*हिन्दुओं के समय में भारतवर्ष में भूमि का साधारण कर पैदावार का छठां भाग था।

† यह वर्णन आदि वासियों की किसी जाति का है जो कि उस समय पूरी तरह से हिन्दू नहीं हो गई थी।

अध्याय ६

सामाजिक जीवन

हमको पहिले पहिल सूत्रग्रन्थों में ही विवाह की उन भिन्न भिन्न रीतियों का वर्णन मिलता है जिनसे कि हम पीछे के समय की स्मृतियों के द्वारा परिचित हैं। वसिष्ठ केवल छः रीतियों का वर्णन करते हैं, अर्थात्—ब्राह्मविवाह जिसमें पिता जल का अर्घ दे कर अपनी कन्या को विद्याध्ययन करनेवाले वर के अर्पण करता है।

दैव विवाह जिसमें पिता अपनी कन्या को आभूषणों से सज्जित कर के यज्ञ होते समय उसे स्थानापन्न पुरोहित को दे देता है।

आर्ष विवाह जिसमें पिता गाय वा बैल के पलटे अपनी कन्या को दे देता है।

गाँधर्व विवाह जिसमें स्वयं पुरुष अपनी प्रिय कुमारी को ले जा कर विवाह कर लेता है।

क्षात्र (वा राक्षस) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी के सम्बन्धियों को मार काट कर उसे बलात् ले जाता है।

मानुष्य (वा आसुर) विवाह जिसमें पति किसी कुमारी को उसके पिता से मोल ले लेता है।

आपस्तम्ब भी केवल इन्हीं छः विवाहों को मानते हैं परन्तु वह क्षात्र विवाह को राक्षसविवाह और मानुषविवाह को आसुरविवाह कहते हैं। इसके सिवाय आपस्तम्ब केवल प्रथम तीनों विवाहों को अर्थात् ब्राह्म, दैव और आर्ष विवाहों को उत्तम समझते हैं।

परन्तु इनसे प्राचीन लेखक गौतम और बौधायन विवाह की आठ रीतियाँ लिखते हैं जिनमें उपरोक्त छः विवाहों के अतिरिक्त निम्नलिखित दो प्रकार के विवाह अधिक हैं अर्थात् प्राजापत्य विवाह जो कि प्रशंसा के योग्य समझा जाता था और पैशाच विवाह जो कि पाप समझा जाता था। प्राजापत्य विवाह में पिता अपनी कन्या को केवल उसे यह कह कर उसके प्रियतम को दे देता था कि "तुम दोनों मिल कर नियमों का पालन करो।" पैशाच विवाह केवल एक प्रकार का कन्याहरण था जिसमें पुरुष किसी अचेत स्त्री को ग्रहण करता था।

दार्शनिक समय में कुटुम्बियों के साथ विवाह करने का बड़ा निषेध था। वसिष्ठ उस स्त्री और पुरुष में विवाह होने का निषेध

करते हैं जो कि एक ही गोत्र वा एक ही प्रवर के हों अथवा जिनका माता के पक्ष में चार पीढ़ी तक का वा पिता पक्ष में छः पीढ़ी तक का सम्बन्ध हो (८, १ और २)। आपस्तम्ब उन पुरुषों और स्त्रियों के विवाह का निषेध करते हैं जो कि एक ही गोत्र के हों अथवा जिन में माता (वा पिता) के पक्ष में (छः पीढ़ी तक का) सम्बन्ध हो (२, ५, ११, १५ और १६)। परन्तु बौद्धायन किसी पुरुष को अपने मामा वा चाची की कन्या से विवाह कर लेने की आज्ञा देते हैं (१, १, २, ४)।

दार्शनिक समय में अल्प अवस्था की कन्याओं के विवाह का प्रचार नहीं हुआ था। वसिष्ठ कहते हैं—

६७ "जो कुमारी युवावस्था को प्राप्त हो गई हो उसे तीन वर्ष तक ठहरना चाहिए।

६८ "तीन वर्ष के उपरान्त वह अपने बराबर जाति के किसी पति से विवाह कर सकती है।" (१७)

७० "परन्तु उपरोक्त वाक्य के आगे ही एक दूसरा वाक्य मिलता है जिसमें कन्याओं के बचपन में ही विवाह करने का उल्लेख है। यह वाक्य किसी दूसरे का जोड़ा हुआ जान पड़ता है।

विधवा विवाह जो कि वैदिक काल तथा ऐतिहासिक काव्य काल में प्रचलित था, उसका प्रचार दार्शनिक काल में भी रहा परन्तु बालविधवाओं को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में अब वह अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। विधवा के दूसरे विवाह से जो पुत्र होता था वह बहुधा उनके पुत्र वा नियुक्त करने वा कन्या के पुत्र की भाँति समझा जाता था, जैसा कि पूर्व अध्याय में उद्धृत किये हुए वाक्यों से विदित होगा।

विवाह के लिये धर्मसूत्रों में इस प्रकार के नियम हैं। विवाह एक नए प्रकार के जीवन अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का द्वार समझा जाता था। विवाह के पहिले युवा मनुष्य केवल विद्यार्थी होता था। यहाँ पर विद्यार्थी तथा गृहस्थ के लिये सूत्रों में जो नियम दिए हैं उनका संक्षेप में वर्णन करना मनोरञ्जक होगा।

बालक के जीवन की पहिली बड़ी बात कदाचित् उसका विद्यार्थी हो कर विद्यारम्भ करना था। ब्राह्मण का बालक आठ वर्ष और सोलह वर्ष की अवस्था के भीतर, क्षत्रिय बालक ग्यारह वर्ष और बाईस वर्ष के भीतर और वैश्य बारह वर्ष वा चौबीस वर्ष के भीतर

विद्यारम्भ करता था। तब वह विद्यार्थी अपने गुरू के घर १२, २४ ३६, वा ४८ वर्षों तक अपनी इच्छानुसार एक दो तीन वा चार वेदों को सीखने के लिये रहता था। अपने जीवन के इस काल में वह मसालेदार भोजन सुगन्ध और सब प्रकार के विलास के पदार्थों से अलग रहता था। वह अपने बालों का जूड़ा बाँधता था और एक छड़ी, कमर में एक वस्त्र और सन वा पटुए का कोई वस्त्र अथवा मृगचर्म ही धारण करता था। सुख भोग के सब स्थानों से बचता हुआ, अपनी इंद्रियों को दमन करता हुआ, विनयी और नम्र विद्यार्थी प्रति दिन सबेरे अपनी छड़ी ले कर आस पास के गाँवों के पुण्यात्मा गृहस्थों के यहां भिक्षा के लिये जाता था और जो कुछ उसे दिन भर में मिलता था वह सब अपने गुरू के सामने ला रखता था और गुरू के भोजन कर लेने के उपरान्त वह भोजन मुँह में डालता था। वह जंगलों में जा कर लकड़ी लाता था और सबेरे तथा सन्ध्या के समय घर के काम के लिये जल लाता था। प्रति दिन सबेरे वह पूजास्थान को झाडू दे कर साफ करता था और आग जला कर उस पर पवित्र ईंधन रखता था, और प्रति दिन सन्ध्या के समय वह अपने गुरू के पैर धोता था, उसकी देह दबाता था, और उसके सो जाने पर स्वयं सोता था। प्राचीन समय के विद्यार्थी लोगों का जीवन ऐसा नम्र और सीधा सादा था और अपने पुरुषों की पवित्र विद्या का उपार्जन करने के लिये वे इस प्रकार अपने मन की पूरी शक्ति को काम में लाते थे।

यह कहना अनावश्यक होगा कि शिक्षा केवल मुँह से दी जाती थी। विद्यार्थी अपने गुरु का हाथ सम्मान से पकड़ कर और अपना चित्त गुरु की ओर एकाग्र कर के कहता था "पूज्यवर, पाठ दीजिये" और तब वेदों की भूमिका के लिये सावित्री (ऋग्वेद की प्रसिद्ध गायत्री) का पाठ किया जाता था (गौतम १, ५५, ५६) नित्य नए नए पाठ सीखे जाते थे और विद्यार्थी को दिन में दो कार्य्य करने पड़ते थे अर्थात् अपना पाठ स्मरण करना और गुरू के घर का काम काज करना।

जब कई वर्ष तक बहुधा कई गुरुओं के पास पढ़ कर विद्यार्थी अपने घर लौटता था तो वह अपने गुरुओं को एक अच्छी दक्षिणा देता था और अपना विवाह कर के गृहस्थ की नाईं अथवा स्नातक अर्थात् विद्योपार्जन समाप्त कर के स्नान किये हुए मनुष्य की भाँति

रहता था। सूत्रकारों ने गृहस्थों के लिये अपने अतिथों का आदर सत्कार करना बारम्बार उनका सर्वोच्च धर्म्म लिखा है क्योंकि अतिथि का सत्कार करना गृहस्थ के लिये ईश्वर का एक बड़ा भारी यज्ञ है जिसे कि सदैव करना चाहिए (आपस्तम्ब २, ३, ७, १)।

छात्र तथा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर अन्य दो प्रकार के आश्रम भी थे अर्थात् भिक्षुक और वैखानस। संस्कृत के ग्रन्थों से हमें विदित होता है कि ठीक जीवन उस मनुष्य का समझा जाता था जो कि अपनी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में इन चारो आश्रमों में रह चुका हो। आपस्तम्ब भी, जो कि एक सब से पीछे के सूत्रकार हैं कहते हैं कि "यदि वह इन चारों (आश्रमों) में रहे......तो वह मुक्त हो जायगा" (२, ६, २१, २)। परन्तु आरम्भ में यह बात नहीं थी और प्राचीन समय में कोई मनुष्य भी इन चारो में से किसी एक आश्रम में अपना सब जीवन व्यतीत कर सकता था। वसिष्ठ ने कहा है कि कोई मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार अपना शेष जीवन इन चारों में से किसी एक आश्रम में व्यतीत कर सकता था (७, ३)। और बौद्धायन भी यह नियम उद्धृत करते हैं कि मनुष्य अपनी शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त एक दम भिक्षुक हो सकता है (२, १०, १७, २)। हमारे लिये यहां पर भिक्षुक और वैखानस लोगों के नियमों का उल्लेख करना निष्प्रयोजन होगा। इतना कहना बहुत होगा कि भिक्षुक अपना सिर मुड़ाए रहता था, उसके कोई सम्पत्ति या घर नहीं होता था, वह तपस्या करता था, निराहार रहता था भिक्षा माँग कर खाता था एक वस्त्र या मृगचर्म पहिनता था, केवल भूमि पर सोता था, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण किया करता था. धार्मिक क्रियाओं का साधन नहीं करता था, परन्तु वेद का पाठ और परमात्मा का ध्यान कभी नहीं छोड़ता था (वसिष्ठ, १०)। इसके विरुद्ध वैखानस यद्यपि वे वनों में रहते थे, कंद और फल भोजन करते थे, और पवित्र जीवन व्यतीत करते थे परन्तु वे पवित्र अग्नि को जलाते थे और सन्ध्या और सवेरे के समय अर्घ देते थे। (वसिष्ठ ६)।

अब हम गृहस्थों के विषय में फिर वर्णन करते हैं जो कि चारों आश्रमों में सब से श्रेष्ठ समझे गए हैं, क्योंकि आदि में गृहस्थ लोग ही सम्मिलित थे, भिक्षुक और वैखानस नहीं। और "जिस

प्रकार सब छोटी और बड़ी नदियां अन्त में समुद्र ही का आश्रय लेती हैं उसी प्रकार सब आश्रम के लोग गृहस्थों के ही द्वारा रक्षित किये जाते हैं (वसिष्ठ, ८, १५)। गृहस्थों के लिये पूरे चालीस धर्म्म कहे गए हैं (गौतम, ८, १४—२०) और इन धर्म्मों के उल्लेख से हमको प्राचीन हिन्दुओं के धर्म्म और गृहस्थी के जीवन की झलक मिल जायगी।

गृहस्थी के कर्म्म (१) गर्भाधान (गर्भ धारण करने के समय की रीति) (२) पुंसवन (पुत्र के जन्म होने के समय की रीति (३) सीमन्तोन्नयन (गर्भवती स्त्री का केश सँवारना), (४) जातकर्म्मन (पुत्र के जन्म के समय की रीति, (५) सन्तान का नाम रखना, (६) उसे प्रथम बार खिलाना, (७) सिर का मुण्डन, (८) विद्या आरम्भ करवाना (९-१२), चारो वेदों के पढ़ने का संकल्प, (१३) विद्याध्ययन समाप्त करने का स्नान, (१४) विवाह अर्थात धार्म्मिक क्रियाओं को करने की सहायता के लिये स्त्री का ग्रहण करना, (१५-१९) देवताओं, पितरों, मनुष्यों जीवों और ब्राह्मण अर्थात् परमेश्वर के लिये पांच यज्ञ।

गृह्यकर्म्म अथवा पाक यज्ञ-(१) अष्टका अर्थात् वे क्रियाएं जो जाड़े में की जाती हैं, (२) पार्वण अर्थात् नवीन चन्द्रमा और पूर्ण चन्द्रमा के दिन की क्रियाएं, (३) श्राद्ध अर्थात पितरों के लिये बलिदान, (४) श्रावणी अर्थात् वह क्रिया जो कि श्रावण मास में की जाती है, (५) आग्रहायणी जो कि अग्रहायण मास में की जाती है (६) चैत्री जो कि चैत्र में की जाती है और (७) आश्वयुगी जो कि आश्विन मास में की जाती है।

श्रौत कर्म्म-ये दो प्रकार के होते हैं अर्थात् हविर्यज्ञ अथवा वे पूजाएँ जिनमें चावल, दूध, घी, मांस इत्यादि का अर्घ दिया जाता है और दूसरे सोमयज्ञ जिसमें सोमरस का अर्घ दिया जाता है।

हविर्यज्ञ ये हैं (१) अग्न्याधान, (२) अग्निहोत्र, (३) दर्शपूर्णमास (४) अग्रयण, (५) चातुर्मास्य, (६) निरूढपशुबन्ध और (७) सौत्रामणी।

सोमयज्ञ ये हैं—(१) अग्निष्टोम, (२) अत्यग्निष्टोम (३) उक्थ्य (४) षोडसिन, (५) वाजपेय, (६) अतिरात्र, (७) आप्तोर्याम्। ये चालीस प्रकार के धर्म्म गृहस्थों के लिये कहे गए हैं। परन्तु इन पूजाओं को करने से कहीं बढ़ कर धर्म्म और भलाई करने का पुण्य

समझा जाता था और केवल उसी से स्वर्ग की प्राप्ति समझी जाती थी। गौतम कहते हैं कि—

"वह मनुष्य जो इन चालीसों पवित्र कर्म्मों को करता हो पर उसकी आत्मा में यदि आठो भलाइयाँ न हों तो उसका ब्रह्म में लय नहीं होगा और न वह स्वर्ग में पहुंच सकेगा।

"परन्तु वह जो इन चालीस कर्म्मों में से केवल कुछ कर्म्मों को भी यथार्थ में करता हो और यदि उसकी आत्मा में ये उत्तम भलाइयाँ हों तो ब्रह्म में उसका लय हो जायगा और वह स्वर्ग में निवास करेगा।" [८, २४ और २५]

इसी प्रकार वसिष्ठ कहते हैं कि—

"जिस मनुष्य में भलाई नहीं है उसे वेद पवित्र नहीं कर सकते यद्यपि उसने उन सबको उनके छओ अंगों के सहित अध्ययन क्यों न किया हो। ऐसे मनुष्य के पास से पवित्र पाठ इसी प्रकार दूर भागते हैं जिस प्रकार पक्षियों को जब पूरी तरह से पर आजाते हैं तो वे अपने घोसलों से निकल भागते हैं।

"जिस प्रकार स्त्री की सुन्दरता से अन्धे मनुष्य को कोई सुख नहीं होता उसी प्रकार चारो वेदों और उनके छओं अंगों तथा बलिदानों से उस मनुष्य को कोई फल नहीं होता जिसमें कि भलाई नहीं है।

"जो कपटी मनुष्य छल करता है उसे वेद के पाठ पाप से नहीं बचाते। परन्तु जो वेद के दो अक्षरों को भी आचरण के उत्तम नियमों पर ध्यान दे कर पढ़ता है वह इस प्रकार स्वच्छ हो जाता है जैसे कि आश्विन के महीने में मेघ।" (६. ३—८)

अब हम इन चालिसों क्रियाओं अथवा उनमें से उन क्रियाओं के विषय में कुछ कहेंगे जिनसे कि हिन्दुओं के जीवन का वृत्तान्त विदित होता है। इनमें गृहस्थी की रीतियां, गृहस्थकर्म्म और श्रौतकर्म्म सम्मिलित हैं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। और हम यह भी कह चुके हैं कि श्रौतकर्म्मों का विस्तारपूर्वक विवरण यजुर्वेद और ब्राह्मणों में दिया है और वे संक्षिप्त रूप से श्रौतसूत्रों में दिये गए हैं। ऐतिहासिक काव्य काल के वर्णन में हम ने इन कर्म्मों का संक्षिप्त वर्णन लिखा है परन्तु उनसे लोगों के चाल व्यवहार और जीवन का बहुत कम वृत्तान्त विदित होता है और इस कारण वे हमारे इतिहास के लिये बहुत आवश्यक नहीं हैं। परन्तु गृहस्थी की रीतियां और गृह्यकर्म्म से हमको प्राचीन हिन्दुओं के चाल व्यवहार

का अच्छा वृत्तान्त विदित होता है। वास्तव में प्राचीन हिन्दुओं का किस प्रकार का जीवन था और उनके चाल व्यवहार किस प्रकार के थे, इसका पूरा वृत्तान्त हमें उनसे विदित होता है।

पहिले हम गृहस्थी की रीतियों के विषय में लिखेंगे और उसके उपरान्त गृह्यकर्म्मों के विषय में।

गृहस्थी की रीतियां में सब से आवश्यक ये हैं अर्थात् विवाह, वे रीतियां जो कि स्त्री के गर्भवती होने की अवस्था में तथा पुत्र उत्पन्न होने के समय में होती हैं, अन्नप्राशन अर्थात् बच्चों को पहिली बार अन्न खिलाना, मुंडन, विद्यारम्भ करना, और विद्याध्ययन समाप्त कर के गुरु के यहां से लौटना। जब हम गृहस्थी की इन रीतियों का वर्णन पढ़ते हैं तो हम एक प्रकार से अपने प्राचीन पुरुषों के समस्त जीवन वृत्तान्त देखते हैं और इन रीतियों के हम लोगों के लिये और भी अधिक मनोरञ्जक होने का कारण यह है कि आज दो हजार वर्ष के उपरान्त भी हम लोग इनमें से बहुतसी रीतियों को करते हैं।

विवाह—दूलहा कन्या के पिता के यहां दूत भेजता है और ऋग्वेद की १०, ८५, २३ ऋचा को कहता है जिसका अनुवाद हम पहिले दे चुके हैं। यदि यह प्रस्ताव दोनों ओर के लोगों को स्वीकार हो तो विवाह का वचन स्वीकार किया जाता है और दोनों ओर के लोग एक भरा हुआ कलस छूते हैं जिसमें फूल भूने हुए दाने, यव और स्वर्ण रक्खा जाता है और तब वे एक मंत्र उच्चारण करते हैं। तब दुलहा एक यज्ञ करता है। निश्चित तिथि पर दुलहिन के कुल के लोग उसे सर्वोत्तम फलों और सुगंध से वासित जल से स्नान करवाते हैं उसे नया रंगा हुआ वस्त्र पहिराते हैं, और उसे अग्नि के समीप बैठाते हैं जहां कुल का आचार्य यज्ञ करता है। दुलहा भी स्नान कर के शुभ रीतियों को करता है और उसके उपरान्त "कन्या के घर में ऐसी चार सुधा स्त्रियां जो विधवा न हों उसका स्वागत करती हैं" (सांखायन)। विवाह की रीति भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार की होती थी परन्तु ये सब रीतियां मुख्य मुख्य बातों में मिलती थीं। "वास्तव में भिन्न देशों और भिन्न ग्रामों की रीतियां भिन्न भिन्न हैं... परन्तु जो बातें सब लोग मानते हैं उनका हम उल्लेख करेंगे" (आश्वलायन)। दुलहा दुलहिन का हाथ पकड़ कर उससे तीन बार अग्नि की परिक्रमा करवाता है और कुछ ऋचाएं कहता है यथा "आओ हम लोग विवाह करें। हम लोगों को सन्तान

उत्पन्न हों। प्रीति, सुख और आनन्द के सहित हम लोग सौ वर्ष तक जीएं।" प्रत्येक परिक्रमा में वह उसका पैर यह कहाकर चक्की पर रखवाता है कि "पत्थर की नाईं दृढ़ हो।" दुलहिन का भाई अथवा रक्षक उसके हाथ में आज्य अर्थात् भूना हुआ अन्न देता है और वह उसे अग्नि में हवन करती है। उसके उपरान्त दुलहा दुलहिन को सात कदम आगे बढ़ाता है और उपर्युक्त शब्द उच्चारण करता है। अग्नि की परिक्रमा करना, पत्थर पर पैर रखना, भूने हुए अन्न का हवन करना, और आगे की ओर सात कदम रखना यही विवाह की मुख्य मुख्य बातें थीं। "और दुलहिन को उस रात्रि में किसी ऐसी ब्राह्मणी के घर पर रहना चाहिए जिसका पति और जिसके लड़के जीवित हों। जब वह ध्रुव का तारा, अरुंधति का तारा, और सप्तऋषि का तारा देखे तो उसे अपना मौन भङ्ग कर के यह कहना चाहिए कि मेरा पति जीवित रहे और मुझे सन्तान हो" (आश्वलायन)। सांखायन कहते हैं कि "सूर्य के अस्त होने के उपरान्त उन्हें तब तक मौन हो कर बैठना चाहिए जब तक कि ध्रुव का तारा न निकले। तब वह उसे यह कह कर ध्रुव का तारा दिखलाता है कि 'तू मेरे साथ सुख से रह कर दृढ़ रहे।" तब वह कहती है कि 'मैं भृगु का तारा देखती हूं मुझे सन्तान उत्पन्न हो।' तीन रात्रि तक उन्हें भोग नहीं करना चाहिए।"

गर्भाधान–स्त्री के गर्भवती रहने की अवस्था में कई प्रकार की रीतियां करनी पड़ती थीं। पहिले गर्भाधान की रीति होती थी जिससे कि गर्भ का रहना समझा जाता था।

फिर पुंसवन की रीति से पुत्र सन्तान का निर्णय होना समझा जाता था और गर्भरक्षण की रीति से यह समझा जाता था कि गर्भ में बच्चा सब आपत्तियों से रक्षित रहेगा। सीमन्तोन्नयन की रीति जो कि आश्वलायन के अनुसार चौथे मास में और सांखायन के अनुसार सातवें मास में की जाती थी, बड़ी मनोरञ्जक है। गोभिल कहते हैं कि वह चौथे, छठें वा आठवें मास में की जा सकती थी और उसमें कुछ रीतियों के साथ पति प्रेम से अपनी स्त्री के केश में मांग काढ़ता था।

पुत्र का जन्म—इस अवसर पर ये रीतियां होती थीं अर्थात् जातकर्म वा पुत्र उत्पन्न होने की रीति, मेधाजननम् वा ज्ञान उत्पन्न करने और आयुष्य वा आयु बढ़ाने की रीति। इस अवसर पर पिता

अपने सन्तान का एक पवित्र नाम रखता है। यदि पुत्र हो तो यह नाम सम अक्षरों का होता है और यदि कन्या हो तो विषम अक्षरों का। केवल माता और पिता इस नाम को जानते हैं। दसवें दिन जब माता प्रसूतिका गृह से उठती है तो सब लोगों के लिये लड़के का एक दूसरा नाम रक्खा जाता है। "ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्म्मन् होना चाहिए (यथा विष्णुशर्म्मन्) क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्म्मन् (यथा लक्ष्मी वर्म्मन्) और वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त (यथा चन्द्रगुप्त)" (पारस्कर, १, १७, ४)।

बच्चे को प्रथम बार अन्न खिलाना—यह प्रसिद्ध अन्नप्रासन की रीति है। ऐसा जान पड़ता है कि आज कल की अपेक्षा प्राचीन समय में लड़के को बहुत प्रकार के भोजन खिलाए जा सकते थे। "यदि उसे बलिष्ट होने की इच्छा हो तो बकरे का मांस, यदि धार्मिक होने की इच्छा हो तो तीतर का मांस, यदि प्रतापी होने की इच्छा हो तो पका हुआ चावल और घी खिलाना चाहिए।" (आश्वलायन और सांखायन)। "यदि वह अच्छा वक्ता होना चाहे तो भारद्वाजी पक्षी का मांस, यदि फुर्तीला होना चाहे तो मछली इत्यादि खिलानी चाहिए" (पारस्कर)।

बच्चे का मुंडन अर्थात चूड़ाकरण—सांखायन और पारस्कर के अनुसार यह बच्चे के एक वर्ष के होने पर किया जाता था और आश्वलायन और गोभिल के अनुसार तीसरे वर्ष। बच्चे का सिर मंत्रोच्चारण कर के छुरे से मूंड़ा जाता था (परन्तु लड़की के मूंड़न में मंत्रोच्चारण नहीं किया जाता था) और कुछ बाल छोड़ दिये जाते थे और वे कुल की रीति के अनुसार संवारे जाते थे।

विद्याध्ययन वा उपनयन—यह एक आवश्यक रीति थी और जब लड़के का पिता अथवा रक्षक उसको शिक्षा के लिये गुरू को सौंपता था उस समय की जाती थी। हम देख चुके हैं कि विद्यारम्भ का समय ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के लिये भिन्न भिन्न था और इस अवसर पर तीनों जातियां यज्ञोपवीत पहिनती थीं।

तब विद्यार्थी एक वस्त्र करधनी और छड़ी ले कर गुरू के निकट आता था।

"वह (गुरू) अपने और विद्यार्थी की अंजुली में पानी भरता था और तब उससे (विद्यार्थी से) पूछता था कि 'तेरा नाम क्या है'।

"वह उत्तर देता था 'कि महाशय मैं अमुक अमुक हूं"।

गुरू कहता था। उन्हीं ऋषियों के वंश में'।

शिष्य कहता था कि 'हां महाशय' उन्हीं ऋषियों के वंश में।

"कहो कि मैं विद्यार्थी हूं।

"शिष्य कहता था 'महाशय मैं विद्यार्थी हूं"

"गुरू 'भूर्भुवः स्वः' कह कर अपनी अंजुली से विद्यार्थी की अंजुली पर पानी छिड़कता था।

"और वह विद्यार्थी का हाथ अपने हाथों में ले कर और दहिने हाथ को ऊपर रख कर कहता था—

"सावित्री देवता के प्रताप से, दोनों अश्विनों के बाहु से, पूषण के हाथों से, हे अमुक अमुक मैं तुझे विद्यार्थी बनाता हूं।"

प्राचीन समय में उपनयन की रीति अर्थात् विद्यार्थी का विद्याध्ययन में पैर रखने और वेदों का पाठ आरम्भ करने की रीति इस प्रकार की थी। आज कल उपनयन की रीति कैसी बिगड़ गई है? अब उसका वेद के पाठ से जोकि अब भुला दिया गया है अथवा यज्ञों के करने से जिसकी चाल कि अब बिलकुल उठ गई है, कोई सम्बन्ध नहीं है। अब वह केवल एक व्यर्थ का जनेऊ सदा के लिये पहिरने को की जाती है जोकि प्राचीन समय में न तो व्यर्थ था और न सदा के लिये पहिना जाता था। अब के ब्राह्मण लोग यह जनेऊ खास अपने ही लिये होने का दावा करते हैं जिसे कि प्राचीन समय के ब्राह्मण लोग क्षत्रियों और वैश्यों के साथ पहिन कर यज्ञ करते और वेद पढ़ते थे। इस प्रकार अवनति ने अर्थपूर्ण रीतियों को निरर्थक विधान बना दिया है जिनमें से सब का उद्देश्य लोगों की अज्ञानता को बढ़ाना और पुजेरियों के विशेष स्वत्वों का स्थिर करना है।

पाठशाला से लौटना—विद्या समाप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी अपने घर लौट जाता था और यदि उसके पिता आदि का कोई घर न हो तो अपने लिये वह एक घर बनवाता था। इसमें भी एक रीति की जाती थी और ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का जोकि घरों के देवता वास्तोष्पति तथा अन्य देवताओं के लिये हैं उच्चारण किया जाता था (७, ५४, ५५)। उसके उपरान्त विवाह किया जाता था और अग्न्याधान अर्थात् अग्नि का स्थापन किया जाता था जोकि श्रौतविधान है और जिसका वर्णन अन्तिम पुस्तक के आठवें अध्याय में दिया है। इस प्रकार विद्यार्थी अब गृहस्थ हो जाता था और

अब उसके सिर अधिक और बड़े धर्मों के पालन करनेका भार होताथा।

ये प्राचीन हिन्दुओं की गृहस्थी की सब से आवश्यक रीतियां इस प्रकार थीं। अब हम गृह्यकर्मों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

गृह्यविधानों में "श्राद्ध सब से आवश्यक है जिसमें कि प्रति मास पितरों को पिण्डदान और ब्राह्मण भोजन कराया जाता है। "ऐसे ब्राह्मणों को जो कि विद्वान हों और जिनके आचार बिचार बहुत शुद्ध हों" निमंत्रण दिया जाता था। वे पितरों के प्रतिनिधि स्वरूप हो कर बैठते थे और उन्हीं को सब चीजें चढ़ाई जाती थीं। तब श्राद्ध करने वाला पितरों को यह कह कर अर्घ्य देता था कि 'हे पिता यह तेरा अर्घ्य है, पितामह यह तेरा अर्घ्य है, परपितामह यह तेरा अर्घ्य है।" इसके उपरान्त ब्राह्मणों को गन्ध, माला धूप दीप और कपड़े दिए जाते थे। ब्राह्मणों की आज्ञा से पिण्ड पितृयज्ञ के लिये जो स्थालीपाक तय्यार किया जाता था उसमें घी मिलाया जाता था और उसका अग्नि में हवन किया जाता था अथवा अन्य भोजन की वस्तुओं के साथ वह ब्राह्मणों के हाथ में रक्खा जाता था। और जब श्राद्ध करने वाला देखता था कि ब्राह्मण लोग संतुष्ट हो गए तो वह यह ऋचा पढ़ता था (ऋग्वेद १, ८२, २) वे लोग खा चुके वे लोग सुख से खा चुके" (आश्वलायन)।

पार्वण—यह अमावस्या और पूर्णिमा के दिन किया जाता था। और उसमें व्रत रक्खा जाता था और इन दिनों के देवताओं को उचित मंत्रों के द्वारा पकवान चढ़ाए जाते थे। सत्यधर्मावलम्बी हिन्दू लोग अब तक भी इन दिनों में व्रत रखते हैं।

श्रावणी–यह वर्षाऋतु में श्रावण के महीने की पूर्णिमा को होती थी और यह वास्तव में सर्पों को सन्तुष्ट करने के लिये की जाती थी जो कि वर्षाऋतु में भारतवर्ष में बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। इसमें जो वाक्य उच्चारण किये जाते थे वे बड़े हास्यजनक हैं।

भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के लोगों में सर्पों को संतुष्ट करने का विचार अब बिलकुल नहीं रहा है और उन्हें यह जानने में कठिनता होगी कि आज कल राखी पूर्णिमा की जो रीति की जाती है वह दार्शनिक काल की श्रावणी का दूसरा रूप है। जो राखी आज कल लोग अपने मित्रों में बांटते हैं और जिन्हें बहिन प्रेम से अपने भाइयों को भेजती है वह राखी सर्पोंसे उनकी रक्षा करनेके लिये भेजीजातीथी।

आश्वयुजी–यह अश्वयुग अर्थात् आश्विन मास की पूर्णिमा

के दिन की जाती थी।

१ अश्वयुग की पूर्णिमा को इन्द्र को दूध और चावल चढ़ाना।

२ "आज्य को इन शब्दों से बलिदान चढ़ा कर" दोनों अश्विनों के लिये स्वाहा! दोनों आश्वयुगों के लिये स्वाहा! अश्वयुग की पूर्णिमा के लिये स्वाहा! शरदऋतु के लिये स्वाहा! प्रजापति के लिये स्वाहा! उस सांवले के लिये स्वाहा!

३ "उसको दही और मक्खन यह ऋचा कह कर चढ़ाना चाहिए 'गाय यहां आवें' (ऋग्वेद, ६, २८)।"

४ "उस रात्रि को बछड़ों को अपनी माता के पास छोड़ देना चाहिए।"

५ "तब ब्राह्मणों का भोजन"।

इस विधान का यही वृत्तान्त सांख्यायन देते हैं और यह असम्भव है कि उपरोक्त वृत्तान्त से हम इस रीति को कृषि सम्बन्धी न समझ सकें। यह विचार और भी दृढ़ होता है जब कि पारस्कर से हमें विदित होता है कि इस रीति के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी का यज्ञ किया जाता था।

"मैं इन्द्र की स्त्री सीता का आवाहन करता हूं जिससे कि सब वैदिक और सांसारिक कामों की सिद्धि होती है। मैं जो कुछ कार्य्य करूं उसमें वह मुझे न छोड़े। स्वाहा!

"इस यज्ञ में मैं उस उर्वरा (उपजाऊ भूमि) का आवाहन करता हूं जो कि माला पहिने है और जो प्राणियों को घोड़े गाय और सुख देने में परिश्रम के साथ सहायता करती है। वह मुझे न छोड़े। स्वाहा!" (२, १७, ६)

आश्वयुगी के उपरान्त सीता अर्थात् हल के लकीरों की देवी की पूजा से, उसका जो यह वर्णन किया गया है कि वह वृष्टि के देवता इन्द्र की स्त्री है और उर्वरा अर्थात् उपजाऊ भूमि है तथा फूलों की माला पहिने है इन सब बातों से यह विदित होता है कि आश्वयुगी की रीति केवल एक कृषि सम्बन्धी विधान था जो कि आश्विन में फसल को काटने के उपरान्त कृतज्ञता की भाँति किया जाता था। और यदि यह कृषि सम्बन्धी रीति दार्शनिक समय में कुछ अन्धकारमय थी तो यह आज कल की कोजागर लक्ष्मीपूजा में और भी अधिक अन्धकारमय हो गई है।

लक्ष्मी एक युवती देवी है जो कि दार्शनिक समय में नहीं थी

परन्तु अब वह हिन्दूओं में एक प्रधान देवी है। सीता अब केवल रामायण की नाईका और सतीधर्म और आत्मअर्पण के आदर्श की भाँति समझी जाती है परन्तु लक्ष्मी ने फसल और चावल की देवी का स्थान ग्रहण कर लिया है।

हम देख चुके हैं कि आज कल की कोजागर लक्ष्मीपूजा प्राचीन समय की आश्वयुगी का दूसरा रूप है। पर लक्ष्मीपूजा के भी उपरान्त दुर्गापूजा हुई है जिसने कि आज कल बङ्गाल में अद्भुत रूप धारण किया है जिसका मूल कारण निस्सन्देह फसल के समय की प्रसन्नता है। प्राचीन समय के फसल के समय के एक छोटे से तिहवार ने, जिसमें कि इंद्र और उसकी स्त्री सीता को दुग्ध और चावल चढ़ाया जाता था, आज कल कैसा वृहद रूप धारण कर लिया है।

आग्रहायणी—यह आग्रहायण मास की पूर्णिमा को की जाती थी। यह रात्रि, वर्ष की पत्नी वा वर्ष की मूर्त्ति समझी जाती थी और उसमें वर्ष तथा संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, और वत्सर की पूजा की जाती थी और ये पांचो नाम युग के पांच भिन्न भिन्न वर्षों के हैं (पारस्कर ३, २, २)।

अष्टका—ये अष्टका इसलिये कहलाते हैं क्योंकि वे आग्रहायण मास की पूर्णिमा के उपरान्त तीन वा चार मास तक कृष्णपक्ष की अष्टमी को किये जाते थे। इनमें शाक, मांस और चपातियां चढ़ाई जाती थीं। गोभिल इन पूजाओं के उद्देश्य के विषय में भिन्न भिन्न सम्मतियां उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि ये अग्नि अथवा पितर अथवा प्रजापति अथवा ऋतु के देवताओं अथवा सब देवताओं के संतोष के लिये की जाती थीं (गोभिल, ३, १०, ३)। परन्तु बुद्धिमान पाठक लोग इस बात को अवश्य समझ जांयगे कि इन पूजाओं का मूल कारण जाड़े की ऋतु था जो कि भारतवर्ष में बड़ा अच्छा ऋतु है, जब कि चावल काट कर खरिहान में रक्खा जाता है और गेहूं और जव उगते हैं, और उस समय चपातियां, मांस और शाक केवल ऋतु देवताओं को ही नहीं वरन् मनुष्यों को भी बड़े अच्छे लगते हैं। और इसमें सन्देह नहीं कि हमारे हिन्दू पाठकगण देखेंगे कि यह प्राचीन रीति दूसरे रूप में अर्थात् पौष पार्वण के रूप में अब तक बङ्गाल में वर्त्तमान है जिसमें कि चावल को खरिहान में रखने पर हमारी स्त्रियां कई प्रकार की स्वादिष्ट चपातियां

बना कर खुशी मनाती हैं जिससे कि वृद्ध और युवा दोनों को समान प्रसन्नता होती है।

चैत्री–जो कि वर्ष की अन्तिम रीति है, चैत्र की पूर्णिमा को की जाती थी। उसमें इन्द्र, अग्नि, रुद्र, और नक्षत्रों की पूजा की जाती थी।

प्राचीन समय में गृहस्थी की रीतियां और गृह्यविधान जिनमें कि हिन्दूओं की स्त्रियां खुशी मनाती थीं इस प्रकार की थीं। और यद्यपि इनमें से कुछ रीतियों का मूल अभिप्राय अब जाता रहा है और उन्होंने अब आज कल का दूसरा रूप धारण कर लिया है फिर भी हम लोग दो हज़ार वर्षों के उपरान्त आज तक भी उन प्राचीन रीतियों में से बहुतों का पता आज कल की रीतियों में लगा सकते हैं। हिन्दुओं का कट्टर स्वभाव और प्राचीन बातों में उनकी भक्ति इससे स्पष्ट विदित होती है कि वे उन प्राचीन रीतियों को अब तक किये जाते हैं जो कि पहिले शुद्ध और सच्चे मन से की गई थीं। और प्राचीन हिन्दू रीतियों में जो सच्ची प्रसन्नता होती थी वे कई शताब्दियों तक विदेशियों का राज्य, और जाति की अवनति होने पर भी अब तक ज्यों की त्यों बनी है।

अध्याय ७

रेखागणित और व्याकरण।

हम पहिले देख चुके हैं कि दार्शनिक काल में पूर्व के समय के सब धर्मसम्बन्धी नियम और कानूनों का दार्शनिक रीति पर विचार हुआ और उनकी संक्षिप्त तथा क्रमानुसार पुस्तकें बनाई गईं। इसी काल में ब्राह्मणग्रन्थों की शब्दबाहुल्य से भरी हुई तथा कुछ गड़बड़ बातें काम में लाई गईं, दीवानी और फ़ौजदारी के कानून तथा उत्तराधिकारत्व के कानून की संक्षिप्त पुस्तकें बनाई गईं, जाति के नियम और सामाजिक नियम दृढ़ता से नियत किए गए और नगरवासियों और कुटम्बियों की भांति मनुष्यों के कर्तव्य की व्याख्या की गईं। अतएव यह भली भांति समझा जा सकता है कि इस काल में विद्या और दर्शनशास्त्र ने बड़ी उन्नति की और इस समय में कुछ प्रश्नों और विचारों ने भारत वर्ष में पूर्ण उन्नति प्राप्त की।

हम यह नहीं जानते कि इस काल में ज्योतिषशास्त्र ने क्या उन्नति की थी। ज्योतिषशास्त्र पर हम लोगों को कोई सूत्रग्रन्थ नहीं

मिलता और कदाचित् इसमें सन्देह नहीं कि बहुत समय हुआ कि दार्शनिक काल के ज्योतिषग्रन्थों के स्थान पर आगे चल कर पौराणिक समय के अधिक पूर्ण ग्रन्थ—जैसे कि आर्य्यभट्ट, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य्य के ग्रन्थ हो गए। परन्तु गणितशास्त्र की एक शाखा ने दार्शनिक समय में बड़ी श्रेष्ठता पाई थी। डाक्टर थीबो साहब हमारे धन्यवाद के भाजन हैं कि उन्हों ने यह प्रकाशित किया है कि अन्य शास्त्रों की भांति रेखागणित का अध्ययन पहिले पहिल भारतवर्ष ही में हुआ था। उसके पीछे के यूनानि लोगों ने इस शास्त्र को अधिक सफलता के साथ सुधारा परन्तु यह बात कदापि भूलनी न चाहिए कि संसार रेखागणित के लिते भारतवर्ष ही का ऋणी है, यूनान का नहीं।

ज्योतिष की नांई रेखागणित की उत्पत्ति भी भारतवर्ष में धर्म्म ही के द्वारा हुई और इसी प्रकार व्याकरण और दर्शनशास्त्र भी धर्म्म ही के कारण बने। डाक्टर थीबो साहब कहते हैं कि "यज्ञ करने के ठीक समय का निश्चय करने के लिये कोई नियम न होने के कारण ज्योतिषशास्त्र की ओर लोगों का ध्यान गया। इस अभाव से पुजेरी लोग प्रति रात्रि को चन्द्रमा का नक्षत्रों के मण्डल में बढ़ना और प्रतिदिन सूर्य्य का उत्तर वा दक्षिण की ओर झुकना देखते रहे। उच्चारण के नियम इस कारण ढूंढ कर बनाए गए क्योंकि यज्ञ के मंत्रों में एक अक्षर का भी अशुद्ध उच्चारण होने से यह समझा जाता था कि देवताओं का बड़ा कोप होगा। व्याकरण और शब्द-शास्त्र इस कारण बनाए गए जिसमें कि पवित्र पाठ ठीक २ समझ में आ सके। दर्शनशास्त्र और वेदान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कि प्रायः यह निर्णय करना असम्भव होता है कि इनमें से एक शास्त्र का कहां पर अन्त होता है और दूसरा कहां पर आरम्भ होता है, सुप्रसिद्ध है और इसके विषय में हमारे उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है।" और तब इन विद्वान महाशय ने यह सिद्धान्त वर्णन किया है जिसे भारतवर्ष के इतिहासकारों को कभी न भूलना चाहिए कि जिस शास्त्र का घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन भारतवर्ष के धर्म्म से है उस शास्त्र की उत्पत्ति स्वयं भारतवासियों से ही समझी जानी चाहिए, उसे दूसरी जातियों से संकलित किया हुआ न समझना चाहिए।

भारतवर्ष में रेखागणित की उत्पत्ति वेदियों के बनाने के

नियमों से हुई। कृष्णयजुर्वेद (५, ४, ११) में उन भिन्न भिन्न आकारों का वर्णन है जिनकी वेदियां बनाई जाती थीं और बौद्धायन और आपस्तम्ब ने इन वेदियों और उनके बनाने में जो ईंटे लगाई जाती थीं उनके आकारों का पूरा वृत्तान्त दिया है। (१) चतुरश्र श्येन जो कि बाज पक्षी के आकार का होता था और चौकोर ईंटों का बनाया जाता था, सब से प्राचीन है। (२) श्येन वक्रपक्षव्यस्तपुच्छ भी बाज पक्षी के आकार का होता है और उसमें उस के टेढ़े डैने और फैली हुई पुच्छ का आकार रहता है। (३) कंकचित बगुले और उसके दोनों पैरों का आकार का होता है और (४) अलजचित भी लगभग इसी के समान होता है। (५) प्रौगचित रथ के डंडों के अगले भाग के आकार का अर्थात् समबाहु त्रिभुज के आकार का होता है और (६) उभयतः प्रौगचित दो त्रिभुजों के आकार का होता है जिनके आधार मिले हों। उसके उपरान्त (७) रथचक्रचित और (८) साररथचक्रचित डंडों से रहित और डण्डों के सहित पहिये के आकार के होते हैं। (९) चतुरश्रद्रोनचित और (१०) परिमण्डलद्रोनचित द्रोण अर्थात् बर्तन के आकार का चौकोर अथवा गोल होता है (११) परिचाय्यचित भी पहिये के आकार का होता है (१२) समूह्यचित का भी वैसा ही गोल आकार होता है। (१३) श्मशानचित चौकोर आकार का ढालुआं होता है जो कि एक आधार की अपेक्षा दूसरे की ओर अधिक चौड़ा होता है और साथही चौड़ा और अधिक ऊंचा भी होता है। यह अन्तिम वेदी कूर्म कहलाती है जो कि या तो (१४) वक्राङ्ग अर्थात् टेढ़ी अथवा (१५) नोकीली अथवा (१६) परिमण्डल अर्थात् वृत्ताकार हो सकती है।

सब से पहिले समय के चतुरश्र श्येन का क्षेत्रफल साढ़े सात वर्ग पुरुष होता था, जिसका अर्थ यह है कि वह साढ़े सात वर्गक्षेत्रों के बराबर होता था जिनमें से प्रत्येक का भुज एक पुरुष अर्थात् हाथ उठाए हुए एक मनुष्य की ऊंचाई के बराबर होता था। जब किसी दूसरे आकार की वेदी बनाई जाती थी तो क्षेत्रफल उसका यही रहता था, अर्थात् चाहे चक्र बनाया जाय चाहे समबाहु त्रिभुज चाहे कूर्म परन्तु सबों का क्षेत्रफल साढ़े सात पुरुष ही होता था। और वेदी को दूसरी बार बनाने में उसके क्षेत्रफल में एक वर्ग पुरुष और बढ़ा दिया जाता था और उसे तीसरी बार

बनाने में दो वर्ग पुरुष बढ़ाया जाता था परन्तु ऐसा करने में यह ध्यान रक्खा जाता था कि वेदी के आकार अथवा सापेक्षिक निष्पत्ति में कोई अन्तर न पड़ने पावे। ये सब बातें रेखागणित के विशेष ज्ञान के बिना नहीं की जा सकती थीं और इस प्रकार रेखागणित के शास्त्र की उत्पत्ति हुई। डाक्टर थीबो साहेब कहते हैं कि "ऐसे वर्गक्षेत्र निकालने पड़ते थे जो कि दो वा अधिक दिए हुए वर्गक्षेत्रों के जोड़ के बराबर हों अथवा दो दिये हुए वर्गक्षेत्रों के अन्तर के बराबर हों। आयतक्षेत्र का वर्गक्षेत्र बनाना पड़ता था और वर्गक्षेत्र के बराबर आयतक्षेत्र बनाने पड़ते थे, किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र या आयतक्षेत्र के बराबर त्रिभुज बनाने पड़ते थे इत्यादि। अन्तिम कार्य्य [जो औरों की अपेक्षा सहज नहीं था] किसी ऐसे वृत्त का बनाना था जिसका क्षेत्रफल किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र के बराबर हो।"

इन सब क्रियाओं का फल यह हुआ कि रेखागणित सम्बन्धी बहुत से नियम बन गए जोकि सल्वसूत्रों में दिए हैं। हम देख चुके हैं कि ये सल्वसूत्र कल्पसूत्रों के एक भाग हैं। इनका समय ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। यूनानी लोग रेखागणित के इस साध्य को पिथेगोरेस का बनाया हुआ कहते हैं कि हर समकोण त्रिभुज में समकोण के सामने के भुज पर जो वर्ग बनाया जाय वह उन वर्गों के जोड़ के बराबर होता है जो समकोण के बनानेवाले भुजों पर बनाए जांय। परन्तु यह साध्य भारतवासियों को पिथेगोरेस के कम से कम दो सौ वर्ष पहिले विदित था और पिथेगोरेस ने उसे निस्सन्देह भारतवर्ष से सीखा। यह साध्य निम्नलिखित दो नियमों में पाया जाता है अर्थात् (१) वर्गक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह उस वर्गक्षेत्र की भुजा का दूना होता है और (२) आयतक्षेत्र के कर्ण पर जो वर्ग बनाया जाय वह आयतक्षेत्र की दोनों भुजाओं के वर्गों के बराबर होता है।

हम यहां पर डाक्टर थीबो साहेब की उन सब बातों का वर्णन नहीं कर सकते जिन्हें उन्होंने अपने बड़े अमूल्य और शिक्षाप्रद लेख में दिया है। हम केवल इतना कर सकते हैं कि सल्वसूत्रों में जो सब से अधिक आवश्यक सिद्धान्त निकाले गये हैं उनमें से कुछ का संक्षेप में वर्णन कर दें। एक अद्भुत सिद्धान्त यह था जिसके द्वारा वर्गक्षेत्र की भुजा के सम्बन्ध से उसके कर्ण को संख्या में निकालते थे। इसके लिये यह नियम दिया है ' नाप में

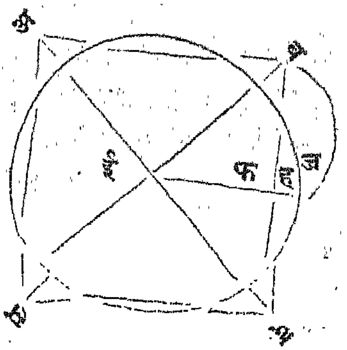
उसका तीसरा भाग जोड़ो और उसमें इस तीसरे भाग का चौथा भाग जोड़ो और उसमें से इस चौथे भाग का चौतीसवां भाग घटा लो। अर्थात् यदि किसी वर्गक्षेत्र की भुजा १ हो तो उसका कर्ण यह होगा $१ + \frac{१}{३} + \frac{१}{३ \times ४} - \frac{१}{३ \times ४ \times ३४} = १.४१४२१५६$

हम लोग जानते हैं कि कर्ण वास्तव में $\sqrt{२} = १.४१४२१३$............ होता है और इस प्रकार यह देखने में आवेगा कि सल्वसूत्रों का नियम दशमलव के ५ अंकों तक ठीक है।

किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र का तिगुना चौगुना पचगुना वा कई गुना वर्गक्षेत्र बनाने, भिन्न भिन्न परिमाण के दो वर्गक्षेत्रों के बराबर एक वर्गक्षेत्र बनाने, दो वर्गक्षेत्रों के अन्तर के बराबर वर्गक्षेत्र बनाने अयनक्षेत्र को वर्गक्षेत्र बनाने और वर्गक्षेत्र को अयनक्षेत्र बनाने, वर्गक्षेत्र को वृत्त बनाने और वृत्त को वर्गक्षेत्र बनाने के नियम बनाए गए हैं। उदाहरण की भांति हम किसी दिए हुए वर्गक्षेत्र के बराबर वृत्त बनाने का नियम उद्धृत करेंगे।

वह नियम यह है "यदि तुम वर्गक्षेत्र का वृत्त बनाया चाहो तो कर्ण के मध्य को केन्द्र मान कर उसके आधे के बराबर प्राची अर्थात् पूर्व की ओर एक रेखा खींचो। उस रेखा का जितना भाग वर्गक्षेत्र के बाहर पड़ता हो उसका तीसरा भाग, तथा रेखा के भीतरवाले भाग को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो।

इस नियम का उदाहरण इस भांति दिया जा सकता है—



अ ब स द एक वर्गक्षेत्र है जिसका कर्ण स ब है और उसका आधा ई ब है। ई बिन्दु को स्थिर रक्खो और प्राची अथवा पूर्व की ओर उसके बराबर ई ज रेखा खींचो। इस रेखा का ह ज भाग वृत्त के बाहर पड़ेगा। उसका तीसरा भाग फ ह लो और उसके भीतरी भाग ई फ के सहित लेकर समस्त ई ह को त्रिज्या मान कर वृत्त खींचो।

यह कहना निरर्थक है कि यह सिद्धान्त लगभग ठीक है।

इसी भांति "यदि तुम वृत्त को वर्गक्षेत्र बनाया चाहो तो उसके

व्योस को आठ भाग में बांटो और इन में से एक को उनतीस भाग में बांटो। इन उनतीसों भागों में से अट्ठाइस भाग निकाल दो और (बचे हुए एक भाग के छठें भाग को उसका) आठवां भाग छोड़ कर निकाल दो।"

इस नियम का अर्थ यह है—

वृत्त के व्यास का $\frac{७}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६ \times ८}$ उस वर्गक्षेत्र की एक भुजा होगी जिसका कि क्षेत्रफल उस वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

रेखागणित भारतवर्ष में अब गई हुई विद्या है क्योंकि जब यह विदित हुआ कि रेखागणित के सिद्धान्त बीजगणित और अंकगणित के द्वारा हल हो सकते हैं तो रेखागणित का प्रचार धीरे धीरे कम होने लगा। और पौराणिक काल में जब कि हिन्दू लोग मूर्तिपूजा करने लगे और पूजेरियों के घर से पवित्र अग्नि के स्थापन करने और वेदियों के बनाने की रीति उठ गई तो भारतवर्ष में रेखागणित के अध्ययन की आवश्यकता न रही।

यूनानी लोग रेखागणित में हिन्दुओं से बहुत बढ़ गए परन्तु वे अंकगणित में कभी उनकी बराबरी न कर सके। दशमलव के सिद्धान्त के अनुसार अंकों के रक्खे जाने के लिए संसार हिन्दुओं का अनुगृहीत है और इस सिद्धान्त के न होने से अंकगणित के शास्त्र का होना ही असम्भव था। पहिले पहिल अरब लोगों ने अंक लिखने की यह रीति हिन्दुओं से सीखी और उन्होंने यूरप में उस का प्रचार किया। प्राचीन यूनानी और रोमन लोग अंकों के लिखने की इस रीति को नहीं जानते थे और इसलिये वे अंकगणित में कभी उन्नति न कर सके।

इसके सिवाय एक दूसरे शास्त्र में भी हिन्दू लोग सब से बढ़े हुए थे और दार्शनिक काल में उन्होंने उसमें वह सफलता प्राप्त की कि जिससे बढ़ कर संसार में अब तक कोई नहीं कर सका प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब कहते हैं कि केवल हिन्दुओं और यूनानी लोगों ने ही व्याकरणशास्त्र की उन्नति की परन्तु यूनानी लोगों ने व्याकरण में जो सफलता प्राप्त की वह पाणिनि के जो कि संसार भर में व्याकरण का सबसे बड़ा पण्डित हुआ है, ग्रन्थ के आगे कुछ भी नहीं है। हम पाणिनी के समय के वादविवाद को

नहीं उठावेंगे। प्रोफेसर मेक्समूलर साहेब उनको कात्यायन का समकालीन बतलाते हैं और उनका समय सम्भवतः ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में निश्चित करते हैं। परन्तु डाक्टर गोल्डस्टकर साहेब कहते हैं कि यह व्याकरण का पण्डित ईसा के पहिले ९ वीं वा १० वीं शताब्दी में हुआ है। हमारा मत यह है कि वह कात्यायन के बहुत पहिले हुआ है और उसका समय ईसा के पहिले आठवीं शताब्दी असम्भव नहीं जान पड़ता। वह निस्सन्देह दार्शनिक काल में हुआ जिस समय कि सब प्रकार की विद्या का दार्शनिक विचार हो रहा था। परन्तु भारतवर्ष के नितान्त पश्चिम में होने के कारण कदाचित् वह उन ब्राह्मणों और उपनिषदों को न जानता वा न मानता रहा होगा जिन्हें कि गंगा की घाटी में रहनेवाली जातियों ने बनाया था और उन लोगों का उनकी विद्या, चाल व्यवहार, और धर्म्म के कारण भी पंजाब के हिन्दुओं से बहुत अन्तर था।

यहां पर पाणिनि के व्याकरण के ग्रन्थ का वर्णन करना हमारे कार्य के बाहर होगा। यूरप में इस शताब्दी में एक बड़ी भारी बात यह जानी गई है कि किसी भाषा में जो लाखों शब्द होते हैं उनकी उत्पत्ति का पता बहुत थोड़े से मूल शब्दों से लगाया जा सकता है। भारतवर्ष में तीन हजार वर्ष हुए कि पाणिनि के समय के पहिले यह बात जानी जा चुकी थी और इस बड़े वैयाकरण ने अपने समय के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति भी की थी।

यह संस्कृत विद्या का ही ज्ञान था जिससे कि इस शताब्दी के यूरप के विद्वानों ने भाषातत्व को निकाला। और बोप और ग्रिम साहबों तथा बहुत से अन्य विद्वानों ने आर्य भाषाओं के शब्दों की व्युत्पत्ति उसी भांति की है जैसे कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा की व्युत्पत्ति आर्यों के इतिहास के उस पूर्वकाल में की थी जब कि एथेंस और रोम नहीं जाने गए थे।

अध्याय ८

सांख्य और योग।

परन्तु दार्शनिक काल की कीर्ति कपिल के दर्शनशास्त्र और बुद्ध के धर्म्म से है। कपिल और बुद्ध दोनों ने प्रायः एक ही बात पर उद्योग किया। उन लोगों का बड़ा उद्योग यह था कि मनुष्यों

को उस दुःख से छुड़ावें जिसे कि प्राणीमात्र भोग रहे हैं। ये दोनों ही उन उपायों को स्पष्ट घृणा की दृष्टि से देखते थे जिन्हें कि वैदिक रीतियां बताती थीं और उन रीतियों को अपवित्र समझते थे क्योंकि उनके द्वारा प्राणियों का बध होता था। उन दोनों ही का यह सिद्धान्त था कि विद्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति मिल सकती है [सांख्यकारिका १ और २ देखो]। उन दोनों ने उपनिषदों के पुनर्जन्म होने के सिद्धान्त को माना है (सांख्यकारिका ४५) और वे कहते थे कि अच्छे कर्मों के द्वारा जीवन की उच्च अवस्थाएं मिलती हैं। और अन्त में उन दोनों का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करने का था (सांख्यकारिका ६७) और यह दार्शनिक और यह सुधारक दोनों ही अज्ञेयवादी हैं।

परन्तु यहां पर इन दोनों की समता समाप्त हो जाती है। कपिल ने जो सम्भवतः बुद्ध के एक शताब्दी पहिले हुए, सांख्यदर्शन को चलाया, परन्तु उन्होंने उसे केवल दर्शनशास्त्र की भांति चलाया था। वे बड़े बड़े ऋषियों और विचारशील विद्वानों से वादविवाद करते थे। उनके दर्शनशास्त्र में साधारणतः मनुष्य जाति से सहानुभूति रखने की कोई बात नहीं है। वे सर्वसाधारण को उपदेश नहीं देते थे और न उन्होंने कोई समाज वा जाति स्थापित की थी। बुद्ध उसके पीछे हुए और वे सम्भवतः उसी नगर में हुए जिस में कि ये महा दार्शनिक हो चुके थे। यह बात निश्चय है कि वे कपिल के दर्शनशास्त्र को बहुत अच्छी तरह जानते थे और उन्होंने अपने मुख्य मुख्य सिद्धान्त उससे ही ग्रहण किए थे। परन्तु उनमें वे गुण थे जो कि उनके पूर्वज में नहीं थे अर्थात् उनमें सभों के लिये सहानुभूति, दीनों के लिये दया और दुखी लोगों के लिये आंसू थे। यह बुद्ध की बड़ी सफलता का मूल कारण है। क्योंकि दर्शनशास्त्र यदि केवल नाम मात्र को हो, यदि वह इच्छा और सच्चे प्रेम से प्राणियों की भलाई के लिये खोज न करे, यदि वह धनाढ्य और दरिद्र को तथा ब्राह्मण और शूद्र को एक दृष्टि से न देखे, तो वह व्यर्थ ही है। शूद्र और दरिद्र लोग एक एक कर के बुद्ध के पास उनकी प्रीति सहानुभूति और भलाई के कारण जाने लगे। अच्छे लोगों ने उनकी उच्च ईश्वरभक्ति की प्रशंसा की, न्यायी लोगों ने उनका यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि सब मनुष्य समान हैं, और सारे संसार ने उनके धर्म के सच्चे

सद्विवेक की प्रशंसा की। उनका नया धर्म्म बढ़ता गया और वह जातियों के नीच ऊंच होने के विचार और उन जातियों के भिन्न भिन्न नियमों को तोड़ता गया। उनकी मृत्यु के तीन शताब्दी पीछे पाटलीपुत्र के सम्राट् ने जो कि समस्त उत्तरी भारतवर्ष का अधिपति था, उनके धर्म को स्वीकार किया और उसे समस्त भारतवर्ष का धर्म्म बनाया। और उस समय की जाति ने मनुष्यों की समानता के उस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जैसा कि हिन्दुओं ने उसके उपरान्त तब से फिर नहीं किया है जब से कि वे जातियां नहीं हैं।

परन्तु इन सब विषयों का वर्णन आगे के अध्यायों में किया जायगा। यहां पर हम कपिल के दर्शनशास्त्र का पुनः उल्लेख करते हैं जो कि संसार के लिखे हुए दर्शनशास्त्रों में सब से प्राचीन है और उन बातों का केवल बुद्धि से उत्तर देने का सब से पहिला उद्योग है जो कि सृष्टि की उत्पत्ति, मनुष्य के स्वभाव और सम्बन्ध और उसके भविष्यत भाग्य के विषय में सब विचारवान लोगों के हृदय में उठती हैं।

सांख्यप्रवचन वा सांख्यसूत्र कपिल का स्वयं बनाया हुआ कहा जाता है परन्तु वह सम्भवतः उसके उपरान्त बना अथवा सुधारा गया है। इसका एक बड़ा अच्छा संस्करण अनुवाद और टिप्पणियों के सहित, डाक्टर बेलेण्टाइन साहब ने प्रकाशित किया है। सांख्यसार विज्ञानभिक्षु का बनाया हुआ है जिन्होंने कि सांख्यप्रवचन का भाष्य किया है। और सांख्यकारिका इस विषय की एक प्राचीन और संक्षिप्त पुस्तक है जिसमें केवल ७२ श्लोक हैं जिन्हें ईश्वरकृष्ण ने बनाया था और जिनका भाष्य गौड़पाद और वाचस्पति ने किया है। इस छोटी परन्तु अत्यन्त उत्तम पुस्तक का अनुवाद लेटिन भाषा में लेसन साहब ने, जर्मन भाषा में विण्डिशमैन और लौरिन्सर साहबों ने, फ्रेंच भाषा में पोण्टअर और सेण्टहिलेयर साहबों ने तथा अंग्रेजी में कोलब्रूक और विलसन और अभी हाल में डेवीज़ साहब ने किए हैं। यह छोटी पुस्तक हमारे बड़े काम की होगी, विशेष कर इस लिये कि डेवीज़ साहेब की अमूल्य टिप्पणी हम को बहुत सहायता पहुंचावेगी। हमें अब केवल इतना ही कहना है कि इन थोड़े से पृष्ठों में हमारे पाठकों के लिये सांख्यदर्शन का कुछ भी खाका खींचना असम्भव

है और यहां इस शास्त्र के कुछ थोड़े से मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का ही उल्लेख किया जा सकता है।

कपिल के दर्शनशास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों को तीनों प्रकार के दुःखों से अर्थात् (१) दैहिक (२) भौतिक और (३) दैविक क्लेशों से छुड़ाने का है। उनके मत से वेद के विधान निरर्थक हैं क्योंकि वे अशुद्ध हैं और उनमें प्राणियों का वध होता है। आत्मा की पूर्ण और अन्तिम मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है।

प्रकृति और आत्मा अनादि हैं और वे किसी के बनाए हुए नहीं हैं। प्रकृति से ज्ञान, चेतना, पांच सूक्ष्म तत्व, पांच स्थूल तत्व, पांचो प्रकार के इन्द्रियज्ञान, पांचो इन्द्रियां और मन की उत्पत्ति हुई है। आत्मा से किसी की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु वह प्रकृति के साथ इस शरीर से उसके मोक्ष होने के समय तक मिली रहती है। कपिल उपनिषदों के इस कट्टर मत को नहीं मानते कि आत्मा परमात्मा का एक अंश है। वे कहते हैं कि आत्मा भिन्न है और प्रकृति के बन्धनों से मुक्त के होने के उपरान्त वह अलग रहती है।

यह स्पष्ट है कि कपिल के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को छोड़ कर और सब की उत्पत्ति प्रकृति से हुई है और इस कारण वे भौतिक हैं। केवल तत्व, इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियां ही नहीं वरन् मन, चेतना और बुद्धि भी भौतिक पदार्थों के फल हैं। कपिल का आज कल के देहात्मवादियों से केवल इस बात में भेद है कि ये कहते हैं कि आत्मा भौतिक पदार्थों से भिन्न और अनादि है, यद्यपि वह कुछ समय तक भौतिक पदार्थों से मिली हुई रहती है।

कपिल के मानसिक दर्शनशास्त्र को स्पष्ट समझने के लिये इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियों, मन, चेतना, बुद्धि, तत्वों और आत्मा के भेदों को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

पांचो ज्ञानेन्द्रियां केवल देखती हैं अर्थात् "ज्ञान" को ग्रहण करती हैं, पाँचो इन्द्रियां अर्थात् जिह्वा, हाथ, पैर इत्यादि अपना अपना कार्य्य करती हैं (सा० का० २८)। मन से वह अर्थ नहीं है जो कि इस शब्द से अंग्रेज़ी में समझा जाता है परन्तु वह केवल ज्ञान की इन्द्री है (सा० का० २७), वह केवल ज्ञान को क्रमानुसार चेतना के निकट लाती है। चेतना उस ज्ञान को "मेरा" बोध करती है। (सा०का०२४) और बुद्धि उनमें भेद प्रभेद समझती है तथा विचारों को बनाती है (सा०का० २३)। इस प्रकार यह देखा जायगा

कि इन्द्रियज्ञान, मन, चेतना, और बुद्धि में जो भेद किए गए हैं वे वास्तव में "मन" के कार्य्यों के भेद हैं। यूरप के दर्शनशास्त्र की भाषा में इसे यों कहेंगे कि मनस् इन्द्रिय ज्ञान को ग्रहण करता है और उसे "अनुभव" बनाता है, चेतना इन्हें "मेरा" ऐसा विचारती है और बुद्धि उनको ध्यान में लाती है।

हिन्दू भाष्यकार लोग इस मानसिक क्रिया को कविता की भाषा में वर्णन करते हैं। वाचस्पति कहते हैं कि "जैसे गांव का मुखिया उस गाँव के लोगों से कर उगाह कर उसको ज़िले के हाकिम के पास ले जाता है, जैसे ज़िले का हाकिम उस द्रव्य को राजमंत्री के पास भेजता है और राजमंत्री उसे राजा के कार्य्य के लिये लेता है उसी भांति मनस् वाह्येन्द्रियों के द्वारा विचार ग्रहण करता है, उन विचारों को चेतना के हवाले करता है और चेतना उन्हें बुद्धि को देती है जो कि उसे राजा 'आत्मा' के काम के लिये लेती है।" इन उपमाओं में जिन भेदों का वर्णन किया गया है उनका शास्त्रीय रूप हम लोगों से छिपा नहीं रह सकता। इन भेदों को यूरप के दर्शन-शास्त्रज्ञ तथा हिन्दू ऋषि लोग दोनों ही मानते हैं। मारल साहब अपनी "एलिमेण्टस् आफ साइकालोजी" नामक पुस्तक में कहते हैं कि "वास्तव में इन्द्रियज्ञान शुद्ध निष्क्रिय अवस्था नहीं है वरन् उसमें मन भी कुछ थोड़ा काम करता है"। जैसे यदि कोई घड़ी हमारे कान के निकट बजे और यदि हमारा ध्यान उस घड़ी की ओर न हो अर्थात् यदि हमारा मन उस समय बजने के ज्ञान को ग्रहण करने के अयोग्य हो तो हम उसका बजना बिलकुल नहीं सुन सकते और मन के इसी काम करने को, जिसके लिये कि यूरप के दर्शनशास्त्र में कोई नाम नहीं है, कपिल 'मनस्' कहते हैं।

कपिल में दर्शनशास्त्र की यह कोई सामान्य बुद्धि नहीं थी कि ऐसे समय में जब कि मस्तिष्क के कार्य्य पूरी तरह से नहीं समझे गए थे उन्होंने मनस, अहंकार और बुद्धि को भी भौतिक समझा, केवल इतनाही नहीं वरन् उन्होंने यह भी भौतिक बतलाया कि तत्वों की उत्पत्ति अहंकार से होती है। इस बात में कपिल ने बर्कले और ह्यूम साहबों के सिद्धान्त को जान लिया कि वस्तुएं इन्द्रियज्ञान की केवल स्थायी सम्भावनाएं हैं, और वे इस बात में केण्ट साहब से सहमत हैं कि हमको बाहरी संसार का इसके सिवाय कोई ज्ञान नहीं होता कि वह हमारी शक्तियों के कार्य्य द्वारा हमारी आत्मा को

विदित होता है और इस प्रकार हम लोग अपने इन्द्रियज्ञानों की पदार्थनिष्ठ वास्तविक स्थिति को मान लेते हैं।

कपिल केवल पांच स्थूल तत्त्वों अर्थात् आकाश, वायु, पृथ्वी, अग्नि और जल के अतिरिक्त पांच सूक्ष्म तत्त्वों अर्थात् नाद, स्पर्श, गंध, दृष्टि और स्वाद का भी उल्लेख करते हैं। परन्तु उनकी इस बात का क्या अर्थ है कि ये सूक्ष्म तत्व स्वतन्त्र हैं ! "कपिल का सिद्धान्त यह जान पड़ता है कि सुनने में कान का सम्बन्ध केवल आकाश से ही नहीं परन्तु उसके सूक्ष्म सिद्धान्त से भी है जिससे कि यह बात स्पष्ट रीति से विदित होती है कि सुनने का कार्य केवल कान तथा शब्द की उत्पत्तिस्थान के बीच परस्पर सम्भाषण का कोई द्वार होने से ही नहीं होता परन्तु उस कार्य के होने में उस तत्व में कुछ परिवर्तन भी होता है जिसमें हो कर नाद चलता है।"

कपिल केवल तीन प्रकार के प्रमाण मानते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, और साक्षी (सा० का० ४)। न्यायशास्त्र में चार प्रकार के प्रमाण माने गए हैं अर्थात् उसमें कपिल के अनुभव को दो भागों में बांटा है अनुमान और उपमान। वेदान्त में एक पांचवें प्रकार का प्रमाण अर्थात् अर्थापत्ति भी माना गया है जो कि अनुमान का एक भेद है यथा "देवदत्त दिन को नहीं खाता और फिर भी वह मोटा है, अतः यह अनुमान किया गया कि वह रात्रि में खाता है।

कपिल अपने तीनों प्रकार के प्रमाणों के सिवाय और किसी प्रकार के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते। वे और सब भीतरी विचारों को नहीं मानते। और चूंकि अनुभव, अनुमान अथवा साक्षी से सब वस्तुओं के बनानेवाले का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अतएव वे ईश्वर का ज्ञान अपने दर्शनशास्त्र के द्वारा होना स्वीकार नहीं करते।

परन्तु कपिल इस सिद्धान्त को मानते हैं कि "सत् कार्य्यम् असत् अकारणात्" अर्थात् जो कुछ है उसका कारण अवश्य होगा क्यों कि कारण के बिना कोई वस्तु नहीं हो सकती (सा० का० ९)। वे मनुष्यों के पर्य्यवेक्षण से विचारने की प्रार्थना करते हैं कि कारण और प्रयोजन एक दूसरे को सूचित करते हैं और कहते हैं कि प्रयोजन और कारण एकही है।

स्वभाव के तीनों गुण अर्थात् सत्व, रजस और तमस हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रों में मुख्य बातें हैं और कपिल ने भी उन्हें स्थान दिया है (सा०का० ११)। ये गुण केवल एक अनुमान हैं जिससे कि

जीवन की सब वर्तमान अवस्थाओं के भेद का कारण विदित होता है।

कपिल सब प्रकार के जीवनों की उत्पत्ति प्रकृति से बतलाते हैं और वे इसके पांच प्रमाण देते हैं (सा० का० १५)। पहिले यह कि विशेष वस्तुओं का स्वभाव परिमित होता है और उनका हेतु भी अवश्य होना चाहिए। दूसरे, भिन्न भिन्न वस्तुओं के साधारण गुण होते हैं और वे एक ही मूल जाति के भिन्न भिन्न भाग हैं। तीसरे, सब वस्तुएं निरन्तर उन्नति की अवस्था में होती हैं और उनमें प्रसार की क्रियाशक्ति होती है जो कि अवश्य एक ही आदि कारण से उत्पन्न हुई होगी। चौथे, यह वर्तमान संसार फल है, और इसका कोई आदि कारण अवश्य होना चाहिए। और पांचवें, समस्त सृष्टि में एक प्रकार का एकत्व है जिससे कि उसका किसी एक ही वस्तु से उत्पन्न होना सिद्ध होता है। इन्हीं कारणों से कपिल यह सिद्धान्त निकालते हैं कि सब प्रकार के स्थूल अस्तित्व प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं।

परन्तु आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है। और उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के भिन्न होने के जो कारण दिए हैं वे भी उल्लेख करने योग्य हैं। उनका पहिला कारण प्रयोजनोद्देश्य का प्रसिद्ध तर्क है, परन्तु कपिल ने आजकल के वेदान्तियों से इसका भिन्न प्रयोग किया है। साकार वस्तुएं तो निस्सन्देह एकत्रित कर के एक नियमित क्रम के अनुसार बनाई गई हैं परन्तु इससे कपिल उन वस्तुओं के बनानेवाले को सिद्ध नहीं करते वरन् यह सिद्ध करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व अवश्य है जिसके लिये कि ये वस्तुएं बनाई गई हैं (सा० का० १७)। गौड़पद कहते हैं कि जिस प्रकार कोई बिछौना जिसमें कि गद्दा, रूई, चांदनी और तकिया होता है, अपना ही न होकर किसी दूसरे के काम के लिये होता है उसी प्रकार यह संसार भी जो कि पांचों तत्वों से बना है पुरुष के काम के लिये है। दूसरे सब वस्तुएं दुःख और सुख की सामग्री हैं अतः वह ज्ञानमय प्रकृति, जो इन दुःखों और सुखों का अनुभव करती है, उससे अवश्य भिन्न होगी। तीसरे देखभाल करनेवाली कोई शक्ति भी अवश्य होनी चाहिए। चौथे एक भोगनेवाली प्रकृति भी होनी चाहिए। और पांचवां प्रमाण प्लेटो का यह सिद्धान्त है कि उच्च जीवनों को प्राप्त करने की अभिलाषा से यह विदित होता है कि उसको प्राप्त करने की सम्भावना भी

है। आत्मा के प्रकृति से भिन्न होने के लिये कपिल ये प्रमाण देते हैं परन्तु वे एक आत्मा को नहीं मानते। वे कहते हैं कि भिन्न भिन्न प्राणियों की भिन्न भिन्न आत्माएं हैं और वे इसके प्रमाण देते हैं (सा० का० १८)। इस बात में उनका उपनिषदों और वेदों से मतभेद है।

सजीव पदार्थों के अत्यावश्यक कर्म्मों की उत्पत्ति कुछ सूक्ष्म शक्तियों से बतलाई गई है और हिन्दुओं के दर्शनशास्त्र में उनका प्रायः "पांच वायु" की भांति उल्लेख किया गया है। इन्हीं पांचों सूक्ष्म शक्तियों के द्वारा श्वास, थकावट, पाचन, खून का प्रचलन और स्पर्शज्ञान होता है।

हम कह चुके हैं कि कपिल ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपनिषदों से ग्रहण किया है परन्तु इस सिद्धान्त को अपने दर्शनशास्त्र के उपयुक्त बनाने के लिये उन्हें उसमें परिवर्तन करना पड़ा। कपिल के अनुसार आत्मा ऐसी निष्कर्म्म है कि उस पर किसी के व्यक्तित्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बुद्धि, चेतना और मनस ये सब मनुष्य के भौतिक अंश हैं। इस विचार के अनुसार कपिल ने यह सिद्धान्त निकाला कि आत्मा के साथ साथ एक सूक्ष्म शरीर का भी पुनर्जन्म होता है जो कि बुद्धि, चेतना, मनस् और सूक्ष्म तत्वों का बना होता है (सा० का० २६ और ४०) और यह सूक्ष्म शरीर अर्थात् लिंगशरीर का सिद्धान्त समस्त हिन्दू दर्शनशास्त्रों में पाया जाता है। मनु कहते हैं कि (१२, १६) पापियों की आत्माओं के चारों ओर एक सूक्ष्म शरीर होता है जिसमें कि वे नर्क के कष्ट भोग सकें। सब जातियों के धर्मों में इस सिद्धान्त के सदृश बातें पाई जाती हैं और ईसाइयों के धर्म में जो शरीर का फिर से उठने का विश्वास है वह इस लिंगशरीर के सिद्धान्त से मिलता है। यह लिंगशरीर प्राणियों के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है और आत्मा के साथ, उसके जीवन के पुण्य अथवा पाप के अनुसार, वह उच्च अथवा नीच लोक को जाता है (सा० का० ४४)। भिन्न भिन्न लोक ये हैं (१) पिशाचों का लोक (२) राक्षसों का (३) यक्षों का (४) गन्धर्वों का (५) इन्द्र (सूर्य) का (६) सोम (चन्द्रमा) का (७) प्रजापति का जहां कि पितरों और ऋषियों का निवास स्थान है। (८) ब्रह्मा का जो कि सब से उच्च स्वर्ग है। इन आठों श्रेष्ठ योनियों के अतिरिक्त पांच नीच योनियां भी हैं अर्थात्

(१) पालतू पशु (२) जंगली पशु (३) पक्षी (४) कीड़े मकोड़े और मछलियां (५) वनस्पति और निर्जीव पदार्थ। मनुष्य इन आठों श्रेष्ठ योनियों और पांचों नीच योनियों के बीच में है (सा० का० ५३) सत्वगुण श्रेष्ठ योनियों में होता है। रजोगुण मनुष्यों में और तमोगुण नीच योनियों में (सा० का० ५४)। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार नीच अथवा ऊंच योनी पा सकता है अथवा मनुष्य ही होकर किसी दूसरी जाति में जन्म ले सकता है। जब आत्मा लिंगशरीर से मुक्त हो जाती है तो वह सदा के लिए मुक्त हो जाती है। आत्मा प्रकृति से मिल कर जो ज्ञान प्राप्त करती है उसीके द्वारा उसकी मुक्ति होती है। "जिस तरह कोई नाचनेवाली अपने को रंगशाला में दिखलाने के उपरान्त नाचना बंद कर देती है उसी प्रकार प्रकृति भी जब वह अपने को आत्मा पर प्रगट कर देती है तो अपना कार्य्य बंद कर देती है।" (सा० का० ५९)

आत्मा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी कुछ काल तक शरीर में रहती है 'जैसे कुम्हार की चाक पहिले घुमाए जाने के वेग से घूमता रहता है।" यही बुद्ध का निर्वाण अर्थात् शान्ति की वह अवस्था है जब कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, सब कामनाओं का अवरोध हो जाता है, कोई इच्छा नहीं रहती और ज्ञानमय आत्मा मुक्ति के लिये तय्यार रहती है। अन्त में आत्मा भौतिक पदार्थों से जुदा हो जाती है। उस समय प्रकृति का कार्य्य समाप्त हो जाता है और वह अपना कार्य्य बन्द कर देती है। आत्मा भौतिक पदार्थों से जुदा हो जाती है और दोनों सदा के लिये एक दूसरे से जुदा होकर रहते हैं (सा० का० ६८)।

यह सांख्ययोग का सारांश है। जर्मनी का सब से नवीन दर्शनशास्त्र अर्थात् शोपेनहर (१८१९) और वान हार्टमैन के १८६९ के सिद्धान्त "कपिल के दर्शनशास्त्र के वेदान्तवाद के रूपान्तर हैं, जो कि अधिक उत्तम रूप में दिए गए हैं परन्तु उसके मूल सिद्धान्त एक ही हैं। इस बात में मनुष्य की बुद्धि उसी ओर गई है जिस ओर कि वह दो हजार वर्ष पहिले गई थी, परन्तु एक अधिक आवश्यक विषय में वह एक कदम आगे बढ़ गई है। कपिल का यह सिद्धान्त था कि मनुष्य में आत्मा का अस्तित्व पूरी तरह है और वास्तव में वही उसकी यथार्थ प्रकृति है जोकि अमर और भौतिक पदार्थों से भिन्न है। परन्तु हमारे नवीन दर्शनशास्त्र के

अनुसार यहां और जर्मनी में भी मनुष्य में केवल वह उच्च प्रकार से उन्नति की हुई रचना समझी गई है। कपिल कहते हैं कि सब बाहरी पदार्थ इसलिये बनाए गए हैं जिसमें कि आत्मा अपने को जान सके, और स्वतंत्र हो सके। शौपेन हौवर कहता है कि मनोविज्ञान का पढ़ना व्यर्थ है क्योंकि आत्मा है ही नहीं। कपिल के दर्शनशास्त्र में लोगों के विश्वास के लिये बड़ा अभाव उसका अज्ञेयवाद था और योग-सिद्धान्त ने इस अभाव की पूर्ति करने का यत्न किया है। वह पातञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है, जो कि डाक्टर गोल्ड स्टूकर साहब के अनुसार इसी के पहिले दूसरी शताब्दी में हुआ। पातञ्जलि के जीवन और इतिहास के विषय में हमें केवल इतनाही विदित है कि उनकी माता का नाम गोनिका था जैसा कि वे स्वयं कहते हैं और वे कुछ समय तक काश्मीर में रहे थे और कदाचित् उस देश के राजाओं ने इसी कारण से व्याकरण पर उन के महाभाष्य को रक्षित रक्खा है। पातञ्जलि अपने को गोनर्दीय अर्थात् गोनर्द का रहनेवाला लिखते हैं और यह देश भारतवर्ष के पूर्वी भाग में है।

हम पहिले देख चुके हैं कि ईसा के पहिले चौथी शताब्दी में कात्यायन ने पाणिनि के व्याकरण पर आक्रमण किया था। पातञ्जलि का बड़ा ग्रन्थ उनका महाभाष्य है जिसमें कि उन्होंने पाणिनि का पक्ष लिया है और उसमें वे अपनी पूर्ण विद्या का स्मारक छोड़ गए हैं। योगशास्त्र भी इन्हीं का बनाया हुआ कहा जाता है और यह विचार बहुत सम्भव जान पड़ता है कि पाणिनि के इस पक्षपाती ने अपने देशवासियों में कपिल को प्रसिद्ध करने का भी यत्न किया हो और उनके उदासीन और अज्ञेयवादी दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा में विश्वास करने का तथा कुछ तपस्या और ध्यान के द्वारा मुक्ति पाने का सिद्धान्त जोड़ा हो।

योगसूत्र का जो कि पातञ्जलि का बनाया हुआ कहा जाता है अंग्रेजी में अनुवाद डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने किया है और उसकी भूमिका में उन्हों ने इस पुस्तक का विषय सन्क्षेप में वर्णन किया है। दर्शनशास्त्र में सांख्य के सामने योग कुछ भी नहीं है और इसलिये हम उसका बहुत थोड़े में वर्णन करेंगे। और हमारा यह संक्षिप्त वर्णन योगसूत्र के उसी विद्वान अनुवादक के सहारे पर होगा।

योगसूत्र में १९४ सूत्र हैं और वह चार अध्यायों में बँटा है पहिला अध्याय समाधिपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के

स्वरूप के विषय में ५१ सूत्र हैं। दूसरे अध्याय में ५५ सूत्र हैं तथा यह साधनपाद कहलाता है और उसमें ध्यान के लिये आवश्यक साधनाओं का वर्णन है। तीसरा अध्याय विभूतिपाद है और उसमें जो सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं उनका वर्णन ५५ सूत्रों में है। चौथा अध्याय कैवल्यपाद है और उसमें ३३ सूत्रों में आत्मा के सब सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने का वर्णन है, और यही ध्यान का अन्तिम उद्देश्य है।

पहिले अध्याय में योग की व्युत्पत्ति 'युज' से कही गई है जिसका अर्थ जोड़ना अथवा ध्यान करना है और यह ध्यान केवल चित्त की वृत्तियों को दमन करने ही से सम्भव है। निरन्तर अभ्यास और शान्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो सकता है और ज्ञात अथवा अज्ञात योग की प्राप्ति हो सकती है। यह दूसरे प्रकार का योग पहिले प्रकार के योग से बढ़ कर है और उसमें विचार अथवा प्रसन्नता, अहंकार अथवा चेतना भी नहीं रहते।

ईश्वर की भक्ति से मन की यह इच्छित अवस्था बहुत शीघ्र प्राप्त होती है। ईश्वर का ध्यान यह है अर्थात् ऐसी आत्मा जो क्लेश, कार्य्यों, भावनाओं और कामनाओं से रहित हो, उसमें सर्वज्ञता का गुण अनन्त रूप से है और "वह सब आदिम लोगों का ज्ञान देनेवाला है क्यों कि समय उसको नहीं व्यापता।" (योगसूत्र १, २५, और २६)। "ओ३म्" शब्द से वह सूचित किया जाता है।

योग की प्राप्ति के लिये रोग, सन्देह, सांसारिक कार्य्यों में चित्त रहना, ये सब बाधाएं हैं। परन्तु मन की एकाग्रता से, उपकार से, दुःख और सुख से विरक्त रहने से और श्वास को नियमानुसार ठहराने से, ये बाधाएं दूर की जा सकती हैं। इसके उपरान्त भिन्न भिन्न प्रकार के योगों का वर्णन कर के यह अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्याय में योग के आवश्यक अभ्यासों का वर्णन है। तपस्या, मंत्र का जपना और ईश्वर भक्ति ये सब से प्रथम साधनाएं हैं। इन से सब प्रकार के दुःख यथा अज्ञान, अहंकार, कामना और द्वेश अथवा जीवन की लालसा, दूर होते हैं। इन्हीं के कारण कर्म किए जाते हैं और कर्मों का फल दूसरे जन्म में अवश्य मिलता है। हम आगे के अध्याय में देखेंगे कि यही बुद्ध का कर्म के विषय में सिद्धान्त है जिसके विषय में इतना लिखा गया है। योग का उद्देश्य इन कर्मों से निवृत्ति पाने का है जिसमें कि पुनर्जन्म न हो।

सांख्य के अनुसार आत्मा और बुद्धि के ये वर्णन हुए। ज्ञान इन दोनों के सम्बन्ध को जुदा करता है और उस ज्ञान को प्राप्त करने से आत्मा स्वतंत्र हो जाती और उसका पुनः जन्म और उसका दुःख नहीं होता। ज्ञान के पूर्ण होने के पहिले उसकी सात अवस्थाएं कही गई हैं और इस पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिये आठ रीतियां लिखी गई हैं (जिससे कि बौद्धों के आठो पथ का स्मरण होता है) पहिली रीति–बुरा कर्म न करना; अहिंसा,सत्य बोलना, चोरी व्यभिचार और लालच न करना है। दूसरी रीति कुछ कर्मों को करना, पवित्रता, संतोष, तपस्या, अध्ययन और ईश्वर की भक्ति है। ये दोनों रीतियां गृहस्थों वा सन्यासियों दोनों ही के लिये हैं। इनके उपरान्त योगियों के विशेष धर्म लिखे गए हैं। तीसरी रीति ध्यान के लिये आसन का बांधना है। चौथी रीति श्वास का नियमानुसार ठहराना है, पाँचवीं रीति इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक कर्मों से रोकना है और छठीं, सातवीं और आठवीं रीतियां धारणा, ध्यान और समाधि हैं जोकि योग के मुख्य अङ्ग हैं। जब इन तीनों रीतियों का योग होता है तो उस से संयम होता है और सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

तीसरे अध्याय में सिद्धियों का वर्णन है और ये निस्सन्देह बड़ी अद्भुत हैं। उनके द्वारा भूत और भविष्य की बातें जानी जा सकती हैं, मनुष्य अपने को लोगों से अदृश्य बना सकता है, दूर देशों अथवा नक्षत्रों में जो बातें हो रही हों उन्हें जान सकता है, आत्मा से बात कर सकता है, वायु में अथवा जल पर चल सकता है और कई दैविक शक्तियां प्राप्त कर सकता है। कपिल के उत्तम वेदान्त में इस प्रकार जोड़ तोड़ करके उसकी दुर्गति की गई।

परन्तु इन सिद्धियों को प्राप्त करनाही योगियों का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। योगी का अन्तिम उद्देश्य आत्मा को मुक्त करने का है और इसका वर्णन चौथे अर्थात् अन्तिम अध्याय में किया गया है। अब हम इस सिद्धान्त के विषय में पुनःवर्णन करते हैं कि सब कर्मों और सब विचारों का फल दूसरे जन्मों में मिलता है। इसके उपरान्त चेतना और इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और आत्मा के भेद लिखे गए हैं और ये भेद प्रायः वैसे ही हैं जैसे कि सांख्य में किए गए हैं। इन भेदों का वर्णन कर के पातञ्जलि कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान के द्वारा पूर्व के सब कार्य्य मिट जाते हैं। (४, २८—३०) और अन्त में वह समय आ

जाता है जब कि तीनों गुण मृत हो जाते हैं और आत्मा केवल अपने तत्त्व में निवास करती है। आत्मा को इस प्रकार मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है (४, ३३) यह मुक्ति अनन्त और नित्य है और जो आत्मा उसे प्राप्त कर लेती है वह सदा के लिये स्वतंत्र होजाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र की दृष्टि से योग किसी काम का नहीं है। उसके सब मूल सिद्धान्त अर्थात् आत्मा, बुद्धि, चेतना, पुनर्जन्म, आत्मा की नित्यता और ज्ञान द्वारा उसकी मुक्ति, ये सब सांख्य के ही सिद्धान्त हैं। वास्तव में पातञ्जलि ने कपिल के दर्शनशास्त्र में एक परमात्मा के होने के सिद्धान्त को जोड़ने का यत्न किया, परन्तु दुर्भाग्यवश उसने उसमें उस समय के बहुत से मिथ्या धर्म्म और मिथ्या कर्म्मों को भी मिला दिया है। अथवा यों समझना चाहिए कि इस बड़े वैयाकरणने एक शुद्ध ईश्वरवाद के वेदान्त को बनाया जिसमें कि आगे चल कर बहुत से मिथ्या धर्म और कर्म मिल गये, जिनका फल हम लोग आज कल के योग सूत्रों में देख रहे हैं। उसके उपरान्त के समय में योगशास्त्र बिलकुल उठ गया और उसमें कठोर और अनुचित तान्त्रिक क्रियाएं मिल गईं, जोकि आज कल के योगी कहलानेवालों का छल और मिथ्या धर्म्म है।

अध्याय ९

न्याय और वैशेषिक।

गौतम को जिन्हें कि भारतवर्ष का अरस्तू कहना चाहिए। न्यायशास्त्र हिन्दुओं का तर्कशास्त्र है। उनका समय विदित नहीं है पर ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने अहिल्या से विवाह किया था। इसमें सन्देह नहीं कि वे दार्शनिक काल में हुए परन्तु वे सम्भवतः कपिल के एक शताब्दी उपरान्त हुए। न्यायसूत्र जोकि उनका बनाया हुआ कहा जाता है पांच अध्यायों में बँटा है जिन-में से प्रत्येक अध्याय में दो " दिन " अर्थात् दैनिक पाठ हैं ये पाठ कुछ भागों में बँटे हैं और प्रत्येक भाग में कई सूत्र हैं। न्याय अब तक भारतवर्ष में बड़े प्रेम से पढ़ा जाता है और हम ने काश्मीर, राजपुताना और उत्तरी भारतवर्ष से विद्यार्थियों को बङ्गाल के नवद्वीप में न्याय की प्रसिद्ध पाठशालाओं में आते देखा है। वे वहां अपने गुरू के घर में रहते हैं और कई वर्षों तक उसी

प्रकार अध्ययन करते हैं जैसे कि गौतम के समय में मागध, अंग, कोशल और विदेह लोगों के विद्यार्थी अध्ययन करते थे। अब भारतवर्ष में और सब बातें बदल गई हैं परन्तु प्राचीन विद्या अब तक भी उसी प्राचीन रीति के अनुसार "टोलों" में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को जबानी सिखाई जाती है। परन्तु समय का प्रभाव इन टोलों पर भी पड़ा है। अधिकांश विद्यार्थी लोग अब इन टोलों में न पढ़ कर स्कूलों और विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं। इन टोलों के संस्थापकों को अब कठिनता से जीविका निर्वाह करने के लिये कुछ मिलता है और उन्हें अच्छे लोगों की उदारता का आश्रय लेने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान को भ्रमण करना पड़ता है और प्रति वर्ष विद्यार्थियों की संख्या घटती ही जाती है। परन्तु फिर भी प्राचीन रीतियों से अद्भुत प्रीति रखनेवाले हिन्दू पण्डित और हिन्दू विद्यार्थी लोग अब तक भी उसी प्राचीन प्रणाली के अनुसार पढ़ने के लिये आते हैं जिसका संक्षिप्त वर्णन हम धर्मसूत्रों के अनुसार ऊपर दे चुके हैं। और यह आशा की जाती है कि यह प्राचीन प्रथा आज कल बहुत से परिवर्तन होने पर भी अभी भविष्यत में ज्यों की त्यों रहेगी।

न्यायशास्त्र उन विषयों से प्रारम्भ होता है जिनके बारे में वादविवाद किया जाय। इसमें दो बातें हैं (१) प्रमाण और (२) प्रमेय। ये दोनों मुख्य विषय हैं और इनके अन्तर्गत चौदह विषय और हैं अर्थात् (३) शंका (४) हेतु (५) उदाहरण (६) निरूपण (७) तर्क अथवा अवयवघटित वाक्य (८) खण्डन (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्पना (१२) आपत्ति (१३) मिथ्या हेतु (१४) छल (१५) जाति और (१६) विवाद।

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रमाण इसमें चार प्रकार के माने जाते हैं अर्थात् अनुभव, अनुमान, सादृश्य और साक्षी। "कारण वह है जो कि किसी कार्य्य के पहिले अवश्य होता है और वह कार्य्य उस कारण के बिना नहीं हो सकता" और "कार्य्य वह है जो अवश्य ही कारण से होता है और उस कारण के बिना नहीं हो सकता।" कारण और कार्य्य का सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है अर्थात् संयोग और समवाय। इसलिये कार्य्य तीन प्रकार के हो सकते हैं [१] तात्कालिक और स्पष्ट, यथा सूत कपड़े का है [२] माध्यमिक और अव्यक्त, यथा बिनावट कपड़े की है और

[३] कार्णिक यथा करघा कपड़े का है।

जिन वस्तुओं को प्रमाणित करना है अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करने योग्य हैं वे ये हैं [१] आत्मा [२] देह [३] इन्द्रियज्ञान [४] इन्द्रिय का उद्देश्य [५] बुद्धि [६] मनस् [७] उत्पत्ति [८] अपराध [९] पुनर्जन्म [१०] प्रतिफल [११] दुःख और [१२] मुक्ति।

आत्मा प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न है, वह देह और इन्द्रियों से जुदी है और ज्ञान का स्थान है। प्रत्येक आत्मा नित्य और अनन्त है और अपने जीवों के कर्मों के अनुसार दूसरा जन्म लेती है। यहां तक तो हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त कपिल के दर्शनशास्त्र के अनुकूल है। परन्तु न्याय शास्त्र में इतनी बात विशेष है कि उसके अनुसार परमात्मा एक है, वह नित्यज्ञान रखनेवाला और सब वस्तुओं का बनानेवाला है। यह देह भौतिक है पांचों बाह्येन्द्रियां भी भौतिक हैं और मनस् ज्ञान की इन्द्रिय है। पाठक लोग यहां देखेंगे कि न्यायशास्त्र, और सच पूछिए तो हिन्दुओं के सभी दर्शनशास्त्र, सांख्यदर्शन के कितने अनुगृहीत हैं और इसलिये उसे हिन्दू दर्शनशास्त्रों की जड़ कहना उचित होगा।

बुद्धि के दो कार्य्य हैं अर्थात् स्मरण रखना और विचारना। विचार यदि स्पष्ट प्रमाणों के द्वारा हो तो सत्य होता है, और यदि प्रमाणों के द्वारा न हो तो मिथ्या होता है। इसी प्रकार स्मरण भी सत्य वा मिथ्या हो सकता है। इन्द्रिय ज्ञानों के कारण गंध, स्वाद, रंग, स्पर्श, और नाद हैं। उत्पत्ति वा कार्य्य, पाप पुण्य का और यश अपयश का कारण है, और कार्य्य करने का उद्देश्य केवल सुख प्राप्त करने वा दुःख से बचने की कामना है जैसा कि यूरप के दर्शनशास्त्र भी कहते हैं।

आत्मा के दूसरे शरीरों में जाने को पुनर्जन्म कहते हैं। दुःख की उत्पत्ति पाप से होती है। पाप २१ प्रकार के कहे गए हैं जिनसे कि दुःख होता है। आत्मा की मुक्ति ज्ञान से होती है कार्य्य से नहीं।

न्याय की विशेषता यह है कि इसमें अनुमान की उन्नति एक सच्चे अवयवघटित वाक्य को निर्माण कर के की गई है और जैसा कि डेवीज़ साहेब कहते हैं कि "तर्कना की शुद्ध रीतियों पर इतनी चतुराई से विवाद किया गया है मानो कि किसी पश्चात्य नैयायिक ने उसे किया हो। हम नीचे एक अवयवघटित वाक्य का उदाहरण देते हैं—

(१) पर्वत पर अग्नि है। (२) क्योंकि उसमें से धुआं निकलता है। (३) जहां कहीं धूआँ निकलता है वहां अग्नि होती है। (४) पर्वत में से धूंआ निकल रहा है। (५) इसलिये उसमें अग्नि है।

अतः हिन्दुओं के अवयवघटित वाक्यों में पाँच भाग होते हैं जो कि (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु वा उपदेश (३) उदाहरण वा निदर्शन (४) उपनयन और (५) निगमन कहलाते हैं। यदि पहिले दोनों भाग अथवा अन्तिम दोनों भाग छोड़ दिए जांय तो अरस्तू का पूरा अवयवघटित वाक्य हो जायगा। अब यह प्रश्न उठता है कि इन दोनों जातियों में अवयवघटित वाक्यों की यह समानता केवल अकस्मात् हुई है अथवा एक जाति ने दूसरी से कुछ बात ग्रहण की है? समय को मिलाने से हम दूसरे शास्त्रों की भांति इस शास्त्र के विषय में भी कह सकते हैं कि हिन्दुओं ने न्यायशास्त्र को निकाला और यूनानियों ने उसे पूर्णता को पहुंचाया।

हिन्दुओं के न्यायशस्त्र में जो पारिभाषिक शब्द हैं उनमें व्याप्ति और उपाधि ये दो शब्द बड़े आवश्यक हैं। व्याप्ति का अर्थ नित्यसंयोग से है अर्थात् वही बात जो कि अरस्तू के उदाहरण से है। "जहां कहीं धुंआ निकलता है वहां अग्नि होती है"—यह नित्य संयोग व्याप्ति हुई। जैसा कि शङ्कर मिश्र कहते हैं "उसमें केवल समगुण का सम्बन्ध ही नहीं है और न उसमें पूर्णता का सम्बन्ध है। क्योंकि यदि तुम कहो कि नित्य संयोग के सम्बन्ध को मध्यवर्ती संज्ञा के समस्त साध्य से सम्बन्ध को कहते हैं तो यह सम्बन्ध धुएं की अवस्था में नहीं है (क्योंकि धुआँ सदा उस स्थान पर नहीं रहता जहां कि अग्नि हो) अब हम यह कहेंगे कि नित्यसंयोग एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें किसी वैशेषिक संज्ञा वा सीमा की आवश्यकता नहीं होती। अथवा यों समझिए कि संयोग व्याप्ति वाच्य का नित्य समवाय है।"

इसके अतिरिक्त वैशेषिक संज्ञा वा सीमा को उपाधि कहते हैं। अग्नि सदा धुएं के पीछे रहती है परन्तु धुआं सदा अग्नि के साथ नहीं होता। अतएव धुआं अग्नि से होता है। इस प्रयोग में किसी वैशेषिक नियम अर्थात् उपाधि की आवश्यकता है यथा इसके लिये जलानेवाली लकड़ी गीली होनी चाहिए।

न्यायशास्त्र विज्ञान हिन्दुओं के अध्ययन का बड़ा प्रिय विषय है और इस विषय में हिन्दुओं के बहुत से ग्रन्थों में जो तर्कना की

तीव्रता और सूक्ष्मता अथवा उनके वादविवाद में जो कठोर और वैज्ञानिक सत्यता देखी जाती है वह न तो प्राचीन यूनानियों में, न मध्य काल के अरबवासियों और न मध्यकाल के यूरप विद्वानों में है।

कणाद का तात्विकसिद्धान्तवाद गौतम के न्यायशास्त्र की पूर्ति है, जिस भांति योग, सांख्य की पूर्ति है और इस कारण उनके वर्णन में हमारा अधिक समय न लगेगा। कणाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि सब भौतिक पदार्थ परमाणु के समूह से बने हैं। परमाणु अनन्त हैं और उनके समूहों का नाश उनके जुदा जुदा हो जाने से होता है।

जो कण सूर्य्य की किरणों में दिखाई पड़ते हैं वे छोटे से छोटे हैं जो कि देखे जा सकते हैं। परन्तु वे पदार्थ और प्रतिफल होने के कारण अपने से अधिक छोटे छोटे कणों से बने हुए हैं। मूल कण वह है जो किसी से बना न हो और साथही सामान्य हो।

पहिले पहिल दो परमाणु का संयोग होता है इसके उपरान्त तीन दूने परमाणुओं का संयोग होता है और इसी प्रकार से समझ लीजिए। जो कण सूर्य्य की किरण में देखा जाता है वह छ परमाणुओं से बना होता है। इस प्रकार दो भौतिक परमाणु जोकि एक अदृष्ट नियम के अनुसार कार्य्य करते हैं (और ईश्वर की इच्छा के अनुसार नहीं क्योंकि कणाद ईश्वर की इच्छा को नहीं मानता) मिल कर एक दूना परमाणु हो जाते हैं। तीन दूने परमाणु मिल कर त्रेणुक होते हैं; चार त्रेणुक मिल कर एक चतुरणुक होता है और इसी प्रकार बड़े और उस से बड़े और सब से बड़े पृथ्वी के टुकड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार इतनी बड़ी पृथ्वी बनी है; जलीय परमाणुओं से इतना जल बना है, प्रकाशमय परमाणुओं से इतना प्रकाश और वायुवीय परमाणुओं से इतनी वायु बनी है।

कणाद पदार्थों के सात वर्ग मानता है अर्थात् (१) द्रव्य (२) गुण (३) क्रिया (४) समाज (५) विशेषता (६) संयोग (७) अनस्तित्व।

इनमें से प्रथम वर्ग में कणाद के अनुसार नौ वस्तुएँ हैं अर्थात (१) पृथ्वी (२) जल (३) प्रकाश (४) वायु। इन सब के परमाणु अनन्त हैं परन्तु उनका समूह अनस्थायी और नाशवान है। इसके उपरान्त [५] आकाश है जिसके द्वारा नाद चलता है और वह परमाणुओं से नहीं बना है वरन् अनन्त, एक और नित्य है। इसी प्रकार [६] समय और [७] आवकाश भी भौतिक नहीं हैं और इस

कारण वे परमाणुओं से नहीं बने हैं वरन् अनन्त एक और नित्य हैं। और अन्त में इस वर्ग में [८] आत्मा और [९] मनस हैं। प्रकाश और ऊष्णता एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप समझे गए हैं। आकाश के द्वारा नाद सुनाई देता है और मनस् परमाणु की भांति बहुत ही छोटा समझा गया है। दूसरे वर्ग अर्थात् गुण के सत्रह भेद हैं जो कि उपरोक्त ९ पदार्थों के गुण हैं। ये गुण, रंग, स्वाद, गन्ध, स्पर्श, संख्या, विस्तार, व्यक्तित्व, संयोग, वियोग, पूर्वता, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेश और कामना हैं। तीसरे वर्ग अर्थात् क्रिया के पांच विभाग हैं अर्थात् ऊपर जाना, नीचे आना, सिकुड़ना, फैलना और साधारण रीति से चलना।

चौथा वर्ग अर्थात् समाज हम लोगों के गुण जाति के विचार का आदि कारण है। वह ऐसे गुणों को विदित करता है जो कि बहुत पदार्थों में पाए जाते हैं और कणाद के अनुसार स्वजातीय वस्तुओं के इन वर्गों और अपवर्गों का वास्तव विषयाश्रित अस्तित्व है परन्तु बुद्ध के अनुसार ऐसा नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि केवल व्यक्तियों का अस्तित्व होता है और उनका प्रत्याहार ठीक विचार नहीं है।

पांचवाँ वर्ग अर्थात् व्यक्तित्व सामान्य वस्तुओं को समाज से रहित विदित करता है। वे ये हैं आत्मा, मन, समय, स्थान, आकाश और प्रमाण। छठां वर्ग अर्थात् समवाय ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है जो कि जब तक रहती हैं तब तक सम्बन्ध सदा लगा रहता है, यथा सूत और कपड़े का सम्बन्ध।

सातवां वर्ग अर्थात् अनस्तित्व या तो सर्वगत अथवा इतरेतर होता है।

उपरोक्त संक्षिप्त वृत्तान्त से देखा जायगा कि कणाद के वैशेषिक सिद्धान्त का सम्बन्ध जहां तक कि वह उन्हीं का बनाया हुआ है दर्शनशास्त्र से नहीं वरन् विज्ञान से है। यह भारतवर्ष में सब से पहिला प्रयत्न था जो कि द्रव्य और बल, संयोग और वियोग के विषय की जांच करने के लिये किया गया है।

हिन्दुओं के सब दर्शनशास्त्रों में [वेदान्त को छोड़ कर] द्रव्य नित्य और आत्मा से भिन्न समझा गया है। केवल वेदान्ती लोग द्रव्य को उस परमात्मा का अंश समझते हैं जिस से कि सब वस्तुएं बनी हैं और जो स्वयं सब कुछ है। इस वेदान्त के विषय में हम अगले अध्याय में लिखेंगे।

अध्याय १०

पूर्वमीमांसा और वेदान्त ।

अब हम हिन्दुओं के दोनों अन्तिम वेदान्तों का अर्थात् जैमिनि की पूर्वमीमांसा और बादरायण व्यास की उत्तरमीमांसा का वर्णन करेंगे। भारतवर्ष के इतिहास जाननेवाले के लिये वे अत्यन्त आवश्यक और अमूल्य हैं क्योंकि मीमांसाओं से हिन्दुओं के मन की उस समय की कट्टर अवस्था विदित होती है जब कि दर्शनशास्त्र तथा साधारण लोग दोनों ही अर्थवाद तथा पूर्व शास्त्रों के विरुद्ध धर्म्म की ओर झुक रहे थे। सांख्यदर्शन ने हजारों विचारवान मनुष्यों को उपनिषदों के एक सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विरुद्ध बना दिया था और बौद्धधर्म्म का प्रचार नीच जातियों में बहुत हो गया था क्योंकि वे लोग जाति के ऊंच नीच होने और वेद के बड़े बड़े विधानों से छुटकारा पाया चाहते थे। उस समय के इन विचारों के विरुद्ध मीमांसावाले हुए। पूर्वमीमांसा ने उन वैदिक विधानों और साधनों पर बड़ा जोर दिया जिन्हें कि उस समय के दर्शनशास्त्र निरर्थक और अपवित्र समझने लगे थे और उत्तर मीमांसा ने एक सर्वात्मा होने का सिद्धान्त प्रगट किया जो कि उपनिषदों में पहिले से वर्तमान था और जो आज कल के हिन्दू धर्म्म का मुख्य सिद्धान्त है।

यह मतभेद कई शताब्दियों तक चलता रहा पर अन्त में भारतवर्ष में प्राचीन मत की ही जय हुई। कुमारिल भट्ट ने जो ईसा के पीछे सातवीं शताब्दी में हुए हैं पूर्वमीमांसा के सूत्रों पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा है। वे हिन्दू धर्म्म के एक बड़े रक्षक और बौद्ध धर्म्म के बड़े कट्टर विरोधी हुए हैं। उन्होंने केवल वेदों के प्राचीन विधानों को ही स्थापन नहीं किया, केवल बौद्धों के नवीन मत का ही खण्डन नहीं किया वरन् उन्होंने बौद्धों के मत की उन बातों को भी नहीं माना है जिनमें कि वे वेदों से सहमत हैं।

उत्तरमीमांसा के भी एक बड़े रक्षक हुए और वे कुमारिल से भी बढ़ कर प्रसिद्ध शङ्कराचार्य हैं जो कि उनके दो शताब्दी पीछे हुए। शङ्कराचार्य का बनाया हुआ महाभाष्य शारीरक मीमांसा भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म सन् ७८८ ईस्वी में हुआ

और इस कारण उन्हों ने नवी शताब्दी के आरम्भ में अपनी पुस्तक लिखी और व्याख्यान दिए होंगे।

इस प्रकार कुमारिल और शङ्कराचार्य्य दोनों पौराणिक काल से सम्बन्ध रखते हैं पर उन्होंने उस प्राचीन दर्शनशास्त्र को अन्तिम बार स्थपित किया जोकि ब्राह्मणों और उपनिषदों के आधार पर बना है। भारतवर्ष के दर्शनशास्त्र के इतिहास से हिन्दुओं के मन का इतिहास विदित होता है और दार्शनिक काल में जिन दर्शनशास्त्रों की उन्नति हुई उनका वर्णन तब तक समझ में न आवेगा जब तक कि उत्तर काल में इन शास्त्रों का जाति के इतिहास पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन (चाहे संक्षेप ही में) न किया जाय।

पूर्वमीमांसा के सूत्र जैमिनि के बनाए हुए कहे जाते हैं और वे बारह पाठों अर्थात् साठ अध्यायों में विभाजित हैं। इन सूत्रों पर सबरस्वामी भट्ट की एक प्राचीन वार्त्तिक है। कुमारिल भट्ट उनके पीछे हुए और उनके भाष्य से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस मत के माननेवालों के इतिहास में एक नई बात हुई और यह वार्त्तिक बहुत से आगामी भाष्यकारों में सम्मान की दृष्टि से देखा गया है।

ऊपर कहा गया है कि जैमिनि के सूत्र बारह पाठों में विभाजित हैं। पहिले पाठ में व्यक्त धर्म्म के प्रमाण का वर्णन है। दूसरे तीसरे और चौथे पाठों में धर्म्म के भेद, उपधर्म और धर्म्मों के पालन करने के उद्देश्यों का वर्णन है। धर्म्मों के करने के क्रम का पांचवें पाठ में और उनके लिये आवश्यक गुणों का छटें पाठ में वर्णन है। यह इस सूत्र का आधा भाग समाप्त हुआ।

सातवें और आठवें पाठों में अव्यक्त आज्ञाओं का वर्णन है, नवें पाठ में अनुमानसाध्य परिवर्त्तनों पर वाद विवाद किया गया है और दसवें अध्याय में अपासन ग्यारहवें में गुण और बारहवें अध्याय में समपदस्थ फल का विचार कर के ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

ये पूर्व्व मीमांसासूत्रों के मुख्य विषय हैं परन्तु इनके सिवाय बहुत से अन्य विषय भी हैं जो बड़े मनोरञ्जक हैं।

पहिले अध्याय में यह लिखा गया है कि वेद नित्य और पवित्र है। उनकी उत्पत्ति मनुष्यों से नहीं हुई क्योंकि इसके बनानेवाले किसी मनुष्य ग्रन्थकार का किसी को स्मरण नहीं है। इस नित्य

और दैवी वेद के दो भाग हैं अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण । मंत्र के तीन भेद किए गए हैं अर्थात् (१) जो छन्द में हैं वे ऋक कहलाते हैं। (२) जो गाए जाते हैं वे सामन और (३) शेष यजुस् कहलाते हैं। बहुधा मंत्र में कोई न कोई प्रार्थना या जप होता है, ब्राह्मण में धार्मिक आचारों के विषय में कोई आज्ञा होती है और इन ब्राह्मणों में उपनिषद् भी सम्मिलित हैं।

वेदश्रुति कहलाते हैं और इनके उपरान्त स्मृति हैं जो कि ऋषियों की बनाई हुई हैं और उनमें वेद का प्रमाण दिया गया है। स्मृति में धर्म्मशास्त्र [अर्थात् दार्शनिक समय के धर्म्मसूत्र] भी सम्मिलित हैं जिनमें सामाजिक और धर्म्म सम्बन्धी नियम हैं।

धर्म्मसूत्र के अतिरिक्त कल्पसूत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें भी ऐसे ग्रन्थकारों ने बनाया है जो वेद के ज्ञाता थे। कल्पसूत्र वेदों के अंश नहीं हैं और उन में जो प्रमाण वेदों से लिए गए हैं उन्हें छोड़ कर और कोई प्रमाण नहीं माने जाते। पाठक लोग इस बड़े भेद को देखेंगे जो कि प्राचीन हिन्दुओं ने ब्राह्मणग्रन्थों और सूत्रग्रन्थों में किया है। ब्राह्मणग्रन्थ नित्य और पवित्र समझे जाते थे और सूत्रग्रन्थ जो कि मनुष्यों के बनाए हुए कहे जाते हैं वे कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने जाते थे। इस बात से ब्राह्मणग्रन्थों की पूर्वता भली भांति समझी जा सकती है।

वेदों में योग पर बहुत जोर दिया गया है और इस कारण मीमांसा में भी उन पर बहुत वादविवाद किया गया है। उनमें तीन रीतियों का उल्लेख है अर्थात् पवित्र अग्नि को स्थापित करना, हवन करना और सोम तय्यार करना। उनमें यज्ञों के विषय में अनेक प्रकार के अद्भुत प्रश्न उठाए गए हैं, उन पर वादविवाद किया गया है और उनका उत्तर दिया गया है। यहां पर केवल एक अद्भुत उदाहरण बहुत होगा।

कुछ यज्ञों में ऐसा विधान है कि यजमान अपनी सब सम्पत्ति यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण को दे दे। यहां यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या राजा को भी अपनी सब भूमि, चरागाह, सड़क, झील और तालाब ब्राह्मणों को दे देनी चाहिए ? इसका यह उत्तर दिया गया है कि भूमि राजा की सम्पत्ति नहीं होती और इसलिये वह उसे नहीं दे सकता। राजा केवल देश पर राज्य कर सकता है परन्तु देश उसकी सम्पत्ति नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसके प्रजा के

घर, भूमि आदि उसी की सम्पत्ति हो जाते । किसी राज्य की भूमि को राजा नहीं दे सकता परन्तु यदि राजा ने कोई घर या खेत मोल लिया हो तो वह उन्हें दे सकता है ।

इसी प्रकार अग्नि में अपना बलिदान करने का प्रश्न, दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये यज्ञ करने का प्रश्न और ऐसे ही ऐसे अनेक प्रश्नों पर बड़ी बुद्धिमानी के साथ विचार किया गया है। कोलब्रुक साहब ठीक कहते हैं कि मीमांसा का न्याय कानून का शास्त्र है ।

प्रत्येक बात पर साधारण सिद्धान्तों के अनुसार विचार और निश्चय किया गया है और जिन बातों का निश्चय किया गया है उन्हीं से सिद्धान्त एकत्रित किए जा सकते हैं । उन्हीं को क्रमानुसार संग्रह करने से कानून का दर्शनशास्त्र हो जायगा और वास्तव में इसी विषय का मीमांसा में उद्योग किया गया है ”

अब यज्ञ के सम्बन्ध में जो कि पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय है यह लिखा गया है कि बड़े यज्ञों में कार्यकर्ता लोगों की पूरी संख्या १७ होती है अर्थात् एक यज्ञ करनेवाला और १६ ब्राह्मण । परन्तु छोटे अवसरों पर केवल चार ही ब्राह्मण होते हैं ।

बलिदान की संख्या यज्ञ के अनुसार होती है । अश्वमेध यज्ञ में सब प्रकार के बलि अर्थात् पालतू और जंगली जानवर थलचर और जलचर, चलनेवाले उड़नेवाले तैरनेवाले और रेंगनेवाले जानवरों को मिला कर ६०९ से कम न होने चाहिएं ।

मीमांसा का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को अपना कर्तव्य सिखलाने का है । जैमिनि अपनी मीमांसा को कर्तव्य की व्याख्या दे कर प्रारम्भ करते हैं और उन्होंने केवल इसी विषय का वर्णन किया है। वे कहते हैं “ अब कर्तव्यों का अध्ययन आरम्भ करना चाहिए। कर्तव्य एक ऐसा कार्य्य है जिस पर आज्ञा द्वारा जोर दिया जाता है । इसका कारण खोजना चाहिए । ” परन्तु कर्तव्यों के विषय में उनका विचार बहुत ही संकीर्ण है, वे केवल वैदिक विधानों और साधनों को उचित रीति से करने ही को कर्तव्य कहते हैं । अतएव पूर्वमीमांसाशास्त्र केवल वैदिक विधानों का शास्त्र है ।

जैमिनि प्राचीन वैदिक विधानों और साधनों पर जोर देने की अभिलाषा में वैदिक धर्म का वर्णन करना भूल गए हैं । डाक्टर बेनर्जी अपने “डायलोगज़ ऑन हिन्दू फिलासोफी” में बहुत ठीक कहते हैं कि जैमिनि ने “ कर्तव्यों पर ध्यान देने के विषय में बड़ा

ज़ोर दिया है परन्तु उन्होंने इस बात के उल्लेख करने की परवाह नहीं की वे कर्तव्य किनको करने चाहिएं।" उन्होंने शब्द की भाँति वेद की नित्यता पर जहां ज़ोर दिया है वहां उन्होंने उनको उच्चारण करनेवाली किसी नित्य बुद्धि का उल्लेख नहीं किया। जहां उन्होंने ब्राह्मणों के यज्ञों के करने का उल्लेख किया है वहां उपनिषदों के सर्वात्मा होने के सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं लिखा। इसकारण जैमिनि का दर्शनशास्त्र यद्यपि सनातनधर्म्म के अनुसार है तथापि वह दूषित है और शंकराचार्य्य भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस दर्शनशास्त्र से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस कारण इसकी पूर्ति के लिये एक दूसरे दर्शनशास्त्र की आवश्यकता हुई और उत्तर मीमांसा वा वेदान्त ने इस अभाव की पूर्ति की। इसी वेदान्त में परमात्मा सर्वात्मा सर्वव्यापक ईश्वर का उल्लेख है जैसा कि पूर्व मीमांसा में विधानों और यज्ञों का है। वेदान्त उपनिषदों का प्रत्यक्ष सार है जैसा कि पूर्वमीमांसा ब्राह्मणों का है। वेदान्त के पहिले ही सूत्र में धर्म्म अथवा कर्तव्य के स्थान पर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का उल्लेख है। दोनों मीमांसाओं को मिलाकर सच्चा वैदिक हिन्दूधर्म अर्थात् उसके विधान आदि और उसके सिद्धान्त हैं। इन्ही दोनों मीमांसाओं को मिलाकर उन बौद्ध नास्तिकों का उत्तर हो जाता है जोकि वैदिक धर्म्म और परमेश्वर को नहीं मानते। दोनों मीमांसाओं को मिला कर सांख्यदर्शन के उस अज्ञेयवाद तथा अन्य दर्शनशास्त्रों का उत्तर होता है जो कि भौतिक वस्तुओं को सिद्ध मानते हैं। ये ही दोनों मीमांसा सच्चे हिन्दू धर्म की जड़ हैं।

शारीरिक मीमांसासूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र बादरायण व्यास का बनाया हुआ कहा जाता है। उसमें कपिल के सिद्धान्तों और पातञ्जलि के योग का उल्लेख है और कणाद के परमाणुवाद का भी जोकि गौतम के न्याय का फल है। उसमें जैमिनि तथा जैन, बौद्ध और पाशुपतों के धर्म्मों का भी उल्लेख है और इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान ब्रह्मसूत्र छओं दर्शनशास्त्र के पीछे के समय का है और वह ईसा से बहुत पहिले का बना हुआ नहीं है।

वेदान्त ने न्याय के अवयवघटित वाक्यों को लिया है परन्तु अरस्तू की भाँई उसमें उसके पांच भागों को घटा कर केवल तीन भाग रहने दिए गए हैं। कोलब्रुक साहेब का यह मत है कि यह

सुधार यूनानियों से उद्धृत की गई थी और यह बात बहुत सम्भव जान पड़ती है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र में चार पाठ हैं और प्रत्येक पाठ में चार अध्याय हैं। इस पुस्तक का पूरा खुलासा देना हमारे उद्देश्य से बाहर है और इसलिये हम कोलब्रूक साहेब के ग्रन्थ के अनुसार केवल इसके कुछ सिद्धान्तों को झलका देंगे। जो पाठक इस विषय का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहें वे कोलब्रूक साहब की पुस्तक देखें।

उत्तरमीमांसा ठीक पूर्वमीमांसा की भांति आरम्भ होती है और उसमें ग्रन्थ का उद्देश्य ठीक उन्हीं शब्दों में वर्णन किया गया है। केवल धर्म्म वा कर्तव्य के स्थान पर इसमें ब्रह्मन वा ईश्वर लिखा गया है। इसके उपरान्त ग्रन्थकार ने सांख्य के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि सृष्टि का मुख्य कारण प्रकृति है और इसके उपरान्त उसने सचेतन ज्ञानमय जीव को आदि कारण कहा है। वहां परमात्मा सृष्टि का भौतिक तथा उत्पन्न करनेवाला कारण कहा गया है। मुक्ति प्राप्त करने के लिये उसी का ध्यान करना चाहिए और उसी पर विचारों को स्थिर करना चाहिये।

दूसरे पाठ में भी कपिल के सांख्यदर्शन तथा पातञ्जलि के योगदर्शन और कणाद के परमाणुवाद का खण्डन किया गया है। सब सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मन् से कही गई है और वही सृष्टि का कारण तथा फल बतलाया गया है। कारण और फल का भेद और भिन्न २ फलों के होने से इन सब के ऐक्य का खण्डन नहीं होता। "समुद्र एक है और वह अपने पानी से जुदा नहीं है, फिर भी लहरें, फेन, छींटे, बूंद तथा इसके अन्य भेद एक दूसरे से भिन्न है।" (२, १, ५,) "जिस प्रकार दुग्ध का दधि और पानी का बरफ रूपान्तर मात्र है वैसे ही ब्रह्मन् के भी भिन्न भिन्न रूप हैं।" (२,१,८)।

इसके उपरान्त सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपति, और पांचरात्र धर्मों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

आत्मा कार्य्य करने वाली है। यह निष्कर्म नहीं है, जैसा कि सांख्य का मत है। परन्तु उसकी कर्मशीलता बाह्य है। जैसे बढ़ई अपने हाथ में औजार लेकर परिश्रम करता है और कष्ट सहता है और उन औजारों को रख कर सुख से चैन करता है उसी प्रकार आत्मा भी इन्द्रियों और इन्द्रियज्ञानों के साथ कार्य्य करती है और उन्हें छोड़ कर सुखी होती है (२, ३, १५)। आत्मा उस

परमात्मा का अंश है जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंग है (२, ३, १७)। जिस प्रकार सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पानी पर पड़ता है और उस पानी के साथ हिलता है परन्तु उससे दूसरे पानियों के प्रतिबिम्ब से अथवा स्वयं सूर्य्य से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार एक प्राणी के सुख दुःख से दूसरे प्राणी का अथवा परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शारीरिक इन्द्रियाँ और जीव सम्बन्धी कार्य्य सब उसी महान् के रूप हैं।

तीसरे पाठ में आत्मा के पुनर्जन्म होने तथा ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने का और साथही परमात्मा के गुणों का वर्णन है। आत्मा एक सूक्ष्म शरीर से घिरी रह कर एक रूप से दूसरे रूप में पुनर्जन्म लेती है एक शरीर से अलग हो कर वह अपने कार्य्यों का फल भोगती है और एक नए शरीर में प्रवेश करके अपने पूर्व कर्मों के अनुसार फल पाती है। पाप करनेवाले ७ नर्कों में दुःख भोगते हैं।

परमात्मा अगम्य है और उसे संसार के रूपान्तर नहीं व्यापते, जिस प्रकार साफ बिल्लौर किसी रंगीन फूल से रँगदार दिखाई देता है परन्तु यथार्थ में निर्मल होता है। वह परमात्मा पवित्र इन्द्रिय, बुद्धि और विचार है।

"परमात्मा धूप और अन्य प्रकाशमय वस्तुओं की नाईं प्रतिबिम्बों से अनेक देख पड़ता है परन्तु वास्तव में एक ही है। वह आकाश की नाईं जो कि भिन्न भिन्न जान पड़ता है, वास्तव में बिना भेद के एक ही है।" "उसके अतिरिक्त और कोई नहीं है।" (३, २) पाठक लोग देखेंगे कि वेदान्त स्वयं उपनिषदों का प्रत्यक्ष फल है और उपनिषदों की भांति एकत्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष और वास्तविक वेदान्त में अन्तिम सीमा को पहुंचाया गया है।

इस पाठ के अन्तिम भाग में तपस्या की साधनाओं और ध्यान को उचित रीति से करने और दैविक ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। उस ज्ञान के प्राप्त करते ही पिछले सब पाप नष्ट हो जाते हैं और भविष्यत में पाप नहीं होता। इसी प्रकार योग्यता और पुण्य के भी फल नष्ट हो जाते हैं। और दूसरे कार्य्य जिनका कि फल शेष रहगया हो उन्हें भी भोग के द्वारा नष्ट कर के, पुण्य और पाप का सुख और दुःख भोग कर दैविक ज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्राणी शरीर का नाश करके ब्रह्म में समा जाता है।" (४, १, १४) हम देख चुके हैं कि उपनिषद का अन्तिम मुक्ति पाने का भी यही सिद्धान्त है।

इस से उतर कर दो दूसरे प्रकार की मुक्ति भी होती है उनमें से एक प्रकार की मुक्ति द्वारा आत्मा ब्रह्म् के निकट निवास पा सकता है परन्तु उसका उसके साथ सम्मेल नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार की मुक्ति इस से भी उतर कर है और वह जीवनमुक्ति कहलाती है जिसे कि योगी लोग अपने जीवन में ही प्राप्त कर सकते हैं और इसके द्वारा वे अलौकिक कार्य्य कर सकते हैं यथा पितरों की आत्माओं को बुलाना अथवा भिन्न शरीर धारण करना, अपनी इच्छानुसार किसी स्थान में तुरन्त पहुंच जाना इत्यादि। यह योग-शास्त्र के मिथ्या विचार का पुनरुल्लेख है जिसके विषय में हम पहिले अध्याय में लिख चुके हैं।

वेदान्त के अनुसार ईश्वर के गुणों को कोलब्रुक साहब यों लिखते हैं "ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है और वह सृष्टि के अस्तित्व, स्थिरता और प्रलय का कारण है। सृष्टि की रचना उसकी इच्छा मात्र से होती है। वह इस संसार का फलोत्पादक और भौतिक कारण सृष्टि करनेवाला और प्रकृति, बनानेवाला और बनाने की वस्तु, करनेवाला और कर्म सब कुछ है। सब वस्तुएं अपनी सम्पूर्णता पर उसी में मिल जाती हैं। सम्पूर्ण परमात्मा एक ही, एकमात्र अस्तित्व, वाला अद्वितीय, संपूर्ण, अखण्ड, संम्पूर्ण अनन्त, अपरिमित, अचल सब का मालिक, सत्य, बुद्धि, ज्ञान और सुख है।

भारतवर्ष में दार्शनिक काल में इन्हीं छः दर्शनशास्त्रों का उदय हुआ। उपनिषदों में जो प्रश्न उठाए गए हैं, जो प्रश्न सब विचार शील मनुष्यों के मन में उठते हैं परन्तु जिनका उत्तर वह पूर्णतया नहीं दे सकता अर्थात् "ईश्वर क्या है और मनुष्य क्या है" उनका उत्तर हिन्दू दर्शनशास्त्रों ने इस प्रकार दिया है।

शेष बातों के लिये दार्शनिक काल में ऐसे फल प्राप्त हुए हैं जिनके लिये हिन्दू लोग घमण्ड कर सकते हैं। सम्भवतः इसी समय में भारतवर्ष के महाकाव्यों ने अपना महाकाव्य का रूप पाया इसी समय में रेखागणित और व्याकरण ने पूर्णता प्राप्त की। इसी समय में नैयायिक फिलासोफी और न्यायशास्त्र की तह में पहिले लिखी हुई प्रणालियों की उत्पत्ति हुई और उन्होंने पूर्णता प्राप्त की। इसी समय में दीवानी और फौजदारी के कानून शास्त्र की भांति पुस्तकाकार बने। इसी समय के अन्त में सारा उत्तरी भारतवर्ष एक बड़े और योग्य शासन करनेवाले के आधीन लाया गया और एक उत्तम

और सभ्य शासनप्रणाली की अन्तिम बार उन्नति की गई। और अन्त में इसी समय में उस बड़े सुधारक गौतमबुद्ध ने मनुष्यों की समानता और भाईपन के उस धर्म का प्रचार किया जो कि आज तक समस्त मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म है। अब हम इस बड़े सुधार की कथा का वर्णन करेंगे।

अध्याय ११

बौद्धों के पवित्र ग्रन्थ।

ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में एक बड़े सुधार का आरम्भ हुआ। यहां का प्राचीन धर्म जिसे कि हिन्दू-आर्य्य लोग चौदह शताब्दीयों तक मानते आए थे, बिगड़ गया था और अब वह विधानों में आ लगा था। ऋग्वेद के देवता जिनका कि प्राचीन ऋषी लोग प्रेम और उत्साह के साथ आवाहन और पूजन करते थे, अब केवल नाम मात्र को रह गए थे, और अब इन्द्र और ऊषस् के नाम से कोई स्पष्ट विचार अथवा कोई कृतज्ञता नहीं प्रगट होती थी। प्राचीन समय के ऋषी लोग अपने देवताओं को उत्साह के साथ जो सोमरस, दुग्ध, अन्न वा मांस चढ़ाते थे उनके अब बड़े कठिन विधान और निरर्थक रूप हो गए थे। उन ऋषियों की सन्तानों और उत्तराधिकारियों की एक प्रबल जाति बन गई थी और वे लोगों के लिये बड़े आडम्बर के धार्मिक विधानों को करने और पूजा पाठ करने का स्वत्व रखते थे। लोगों के जी में यह विश्वास जमाया जाता था कि इन विधानों और पूजा पाठ को ब्राह्मणों द्वारा कुछ दे कर करवाने से बड़ा पुण्य होता है। वह धार्मिक स्वभाव और कृतज्ञता के वे विचार जिन्होंने कि वेद के बनानेवालों को उत्तेजित किया था अब नहीं रह गए थे, अब केवल बड़े बड़े और निरर्थक विधान रह गए थे।

इसका एक विरोध आरम्भ खड़ा हुआ। ईसा के पहिले ग्यारहवीं शताब्दी में अर्थात् जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उसके पांच शताब्दी पहिले उत्साही और विचारशील हिन्दुओं ने ब्राह्मणग्रन्थों के इन दुखदाई विधानों को छोड़ कर आत्मा और उसके बनानेवाले के विषय में खोज करने का साहस किया था। उपनिषदों के बनानेवालों ने यह विचारने का साहस किया कि सब जीवित तथा अजीवित वस्तुएं एक ही सर्वव्यापी ईश्वर से उत्पन्न हुई हैं

और वे उसी सर्वव्यापक आत्मा का अंश हैं। मृत्यु और भविष्यत जीवन की गुप्त बातों के विषय में खोज की गई, आत्माओं के पुनर्जन्म का अनुमान किया गया और उत्तर काल के हिन्दू दर्शन-शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों की उत्पत्ति कच्चे रूप में हुई।

परन्तु इन गुप्त विचारों तथा उस से जिस दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई उसमें बहुत थोड़े लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे। आर्य्य गृहस्थों का समाज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब उन्हीं विधानों से संतुष्ट थे जिन्हें कि वे समझते नहीं थे, जोकि ब्राह्मणों में लिखे थे और जिनका संक्षेप सूत्रों में किया गया था। इसी प्रकार सामाजिक और गृहस्थी के नियमों का संक्षेप भी लोगों के लिये सूत्रों में किया गया था और उस समय के सब ही शास्त्र और विद्या सूत्रों के रूप में संक्षिप्त किए गए थे।

ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में भारतवर्ष की ऐसी अवस्था थी धर्म के स्थान में केवल विधान ही रह गए थे, उत्तम सामाजिक और सदाचार के नियम अब बिगड़ गए थे और उनमें जातिभेद, ब्राह्मणों के स्वत्व और शूद्रों के लिये कठोर नियम बन गए थे। जाति के इन अनन्ययुक्त स्वत्वों से स्वयं ब्राह्मणों की भी उन्नति नहीं हुई। वे लोग लालची, मूर्ख और धूर्त हो गए यहां तक कि स्वयं ब्राह्मण सूत्रकारों ने भी बड़े कठोर शब्दों में उनकी निन्दा की है। उन शूद्रों के लिये जोकि आर्य्यधर्म की शरण में आए थे, कोई धार्मिक शिक्षा वा आचार अथवा सामाजिक सत्कार नहीं था। वे लोग समाज में नीच होने और घृणा किए जाने के कारण दुःख मानते थे और परिवर्तन चाहते थे। और ज्यों ज्यों यह भेद बढ़ता गया ज्यों ज्यों लोग भिन्न भिन्न सम्प्रदायक व्यवसाय करने लगे, भूमि और व्यवसाय के स्वामी होने लगे और बल और अधिकार प्राप्त करते गए त्यों त्यों यह भेद असह्य होता गया। इस प्रकार समाज के जो बंधन हो गए थे वे और भी कठोर होते गए और उस समय के सामाजिक, धार्मिक और कानून के ग्रन्थों में अब तक भी शूद्रों के लिये कठोर अन्याय था जोकि शूद्रों के सभ्य, व्यवसायी और समाज के योग्य हो जाने के बहुत काल पीछे तक था।

उत्साही और खोज करनेवाले मनुष्य के लिये, सहानुभूति रखनेवाले और दयालु मनुष्यों के लिये इन सब बातों में कुछ

असंगत पाया जाता था। शाक्यवंशी गौतम उस समय की हिन्दू विद्या और धर्म्म को अच्छी तरह जानता था परन्तु वह इस बातपर विचार करता और इसकी खोज करता था कि जो कुछ उसने सीखा है वह फलदायक और सत्य है अथवा नहीं। उसकी धार्मिक आत्मा मनुष्यों के बीच इस अधार्मिक भेद को स्वीकार नहीं करती थी और उसका दयालु हृदय नम्र, दुखिया और नीच लोगों की सहायता करने के लिये उत्सुक था। लुप्तप्राय विधान तो गृहस्थ लोग करते थे तथा सन्यासी लोग जंगलों में अपनी इच्छा से जो तपस्या करते और दुःख सहते थे वे सब उसकी दृष्टि में निरर्थक थे। उसकी दृष्टि में पवित्र जीवन का सौन्दर्य्य, पापरहित, दयालु आचार ही था जो मनुष्य के भाग्य की सिद्धि, और इस पृथ्वी पर का स्वर्ग था, और भविष्यवक्ता और सुधारक के उत्सुक विश्वास के साथ उसने इसी सिद्धान्त को धर्म्म का सार कहा है। सारे जगत के साथ उसकी जो सहानुभूति थी उसी के कारण उसने दुखी मनुष्यों के लिये आत्मोन्नति और पवित्र जीवन का यह सिद्धान्त निकाला है। वह दीन और नीच लोगों की भलाई करने की, लोभ और बुराई को दूर करने और सब से भ्रातृवत स्नेह करने और शान्ति के द्वारा अपने दुःखों को दूर करने की शिक्षा देता था। उसकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र ऊँच और नीच सब एक से थे--सब पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण प्राप्त कर सकते थे और वह सब को अपने इस धर्म्म को ग्रहण करने के लिये उपदेश देता था। मनुष्य जाति ने इस हृदय वेधक प्रार्थना को स्वीकार किया और कुछ शताब्दी में बौद्धधर्म केवल एक ही जाति या देश का नहीं वरन् समस्त एशिया का मुख्य धर्म्म हो गया *।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार असत्य होगा कि गौतम बुद्ध ने जान बूझ कर अपने को एक नए धर्म्म का संस्थापक बनाया था। इसके विरुद्ध उसके अन्तिम समय तक उसका यह विचार था कि वह उसी प्राचीन और पवित्र धर्म्म को सिखला रहा है जो कि प्राचीन समय में हिन्दुओं अर्थात् ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों में प्रचलित था परन्तु समय के फेर से बिगड़ गया था। वास्तव में

---

* नीचे लिखे हुए अंकों से संसार के निवासियों और बौद्धों की संख्या विदित होगी---

हिन्दूधर्म्म में कुछ घूमनेवाले सन्यासी कहे गए हैं जो कि संसार को छोड़ देते थे, वैदिक विधानों को नहीं करते थे और अपना समय ध्यान में व्यतीत करते थे (छठां अध्याय देखो) । इन लोगों का नाम हिन्दू स्मृति में भिक्षुक लिखा गया है और वे साधारणतः श्रामन कहलाते थे। उस समय जितने श्रामन थे उनमें गौतम ने भी एक श्रेणी के श्रामन स्थापित किए। और वे लोग अन्य श्रामनों से भिन्न समझे जाने के लिये शाक्यपुत्रीय श्रामन कहलाते थे । वह उन्हें संसार को छोड़ देने और पवित्र जीवन तथा ध्यान में अपना समय व्यतीत करने की शिक्षा देता था, जैसा कि अन्य श्रामन लोग भी सिखलाते और करते थे।

तब क्या बात है कि बुद्ध ने अपने जीवन में जो कार्य्य किए हैं उनसे उसकी सम्मतियों का एक नया धर्म्म बन गया है जोकि मनुष्य जाति के तिहाई लोगों का धर्म्म है।

गौतम के पवित्र और धार्म्मिक जीवन, सारे संसार के लिये उसकी सहानुभूति, उसके अद्वितीय धार्म्मिक आदेश, उसके नम्र और सुन्दर आचरण का उसकी शिक्षाओं पर, जो कि बिलकुल नई नहीं थीं, बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके निर्बल और नीच लोगों ने, सब ने सुशील और मन से उत्तम आर्य्य लोगों ने उसका धर्म्म स्वीकार किया, इस धर्म्म ने राजा लोगों को उनके सिंहासन पर और किसान लोगों को उनके झोपड़ों में आश्चर्यित किया और सब जाति के लोगों को प्रीति के साथ एक समाज में मिला दिया।

यहूदी	....	....	....	७,७८०,०००
ईसाई	....	....	....	३२८,०००,०००
हिन्दू	....	....	....	१६०,०००,०००
मुसलमान	....	....	....	१५५,०००,०००
बौद्ध	....	....	....	५००,०००,०००
अन्य लोग	....	....	....	१००,०००,०००
समस्त संसार के लोग		....	....	१,२५०,०००,०००

ईसा की पांचवी और दसवीं शताब्दी के बीच समस्त मनुष्य जाति के आधे से अधिक लोग बौद्ध थे।

और उसके जीवन और कार्यों का पवित्र स्मरण उसकी मृत्यु के पीछे भी स्थिर रहा और जो लोग उसकी शिक्षा को मानते थे उन्हें उसने एक समाज में स्थिर रक्खा और कुछ काल में उन शिक्षाओं का एक भिन्न और उत्तम धर्म्म का रूप हो गया।

गौतम ने पवित्रता और पवित्र तथा सुशील जीवन से प्रीति रखने के कारण वेदों के विधानों और वैरागियों की तपस्याओं को नहीं माना है। वह केवल सार्वजनिक दया और पवित्र वैराग्य पर जोर देता था। वह अपने भिक्षुओं में कोई जाति भेद नहीं मानता था, वह भलाई करने के अतिरिक्त और किसी उत्कृष्ट विधान वा किसी उत्कृष्ट तपस्या को नहीं मानता था। यही कारण है जिसने कि बौद्ध धर्म्म को एक जीवित तथा जीवन देनेवाला धर्म्म बनाया है जब कि इतने अन्य प्रकार के सन्यासियों का धर्म्म मृत हो गया है।

हम बौद्ध धर्म्म की मुख्य बातों और भारतवर्ष के इतिहास पर उसके विस्तृत फलों को प्रगट करने का यत्न करेंगे। भाग्य से इस विषय में हमको उपादानों के अभाव की शिकायत नहीं है।

वास्तव में बौद्ध धर्म्म के विषय में आज कल इतने ग्रन्थ लिखे गए हैं कि यह विचारना प्रायः कठिन है कि पचास वर्ष पहिले बौद्ध ग्रन्थों वा धर्म्मों के विषय में कुछ मालूम न रहा हो। प्रसिद्ध पादरी, डाक्टर मार्शमेन साहब ने भारतवर्ष में बहुत वर्षों तक रह कर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने १८२४ ई० में बुद्ध का इससे अच्छा वर्णन नहीं दिया है कि उसकी पूजा सम्भवतः ईजिप्ट के एपिस से सम्बन्ध रखती है। और दूसरे विद्वानों ने इस से भी अधिक असम्भव और कल्पित बातें लिखी हैं।

यह हर्ष का विषय है कि अब वह समय जाता रहा है। खोज करनेवालों और विद्वानों ने भिन्न भिन्न बौद्ध देशों के हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्रित किए, उन्हें पढ़ा, छपवाया और उनमें से बहुतों का अनुवाद किया है और इस प्रकार उस धर्म्म का यथार्थ बोध कराया है जिसका प्रचार कि गौतम ने पहिले पहिल किया था और जो उसके पीछे भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न जातियों में बदलता गया। यहां पर हमारा काम गत पचास वर्षों में बौद्ध धर्म्म के विषय में जो खोज हुई है उसका इतिहास देने का नहीं है परन्तु उसमें से कुछ बातें ऐसी मनोरञ्जक हैं कि उनका वर्णन किए बिना नहीं रहा जा सकता।

हाडसन साहब सन् १८३३ से सन् १८४३ तक नैपाल के अंग्रेजी

रेजिडेएट रहे और उन्हों ने ही पहिले पहिल उन मुख्य हस्तलिखित ग्रन्थों को एकत्रित किया जिनसे कि उस धर्म का एक गंभीर वर्णन दिया जा सकता है। उन्होंने बङ्गाल की एशियाटिक् सोसायटी को ८५ बस्ते, लंडन की रायल एशियाटिक् सोसाइटी को ८५, इण्डिया आफिस लाइब्रेरी को ३०, आक्सफोर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी को ७ और पेरिस की सोसायटी एशियाटिक् वा स्वयं वर्नफ् साहेब को १७४ बस्ते भेजे। हाडसन साहेब ने अपने वर्णन में इन बस्तों तथा बौद्ध धर्म्म का कुछ वृत्तान्त लिखा है।

इन मृत ग्रन्थों में युजीन वर्नाफ् साहब की बुद्धि ने जीवन डाला और उन्होंने अपनी "इन्ट्रोडक्शन टू दी हिस्ट्री आफ इंडियन् बुधिज़म्" नामक पुस्तक में जिसे कि उन्होंने १८४४ में छपवाया था पहिले पहिल बौद्ध धर्म्म का बुद्धिमानी के साथ और समझ में आने योग्य वैज्ञानिक रीति पर वर्णन किया है। इस प्रसिद्ध विद्वान् के यश से और जिस योग्यता और दार्शनिक सूझ के साथ उन्होंने इस विषय को लिखा है उससे विद्वान् यूरोपियन् लोगों का ध्यान इस अद्भुत धर्म्म की ओर गया है और वर्नफ साहब ने जिस खोज को प्रारम्भ किया था वह आज तक जारी रक्खी गई है और उसका बहुत अच्छा फल हुआ है।

हाडसन साहेब ने नैपाल में जो कुछ किया है उतनाही काम तिब्बत में हंगेरिया के विद्वान् अलेक्ज़ान्डर सोमा कारोसी साहब ने किया है।

विद्या की खोज के इतिहास में इस सीधे सादे हंगेरिया के विद्वान् की अनन्य प्रीति से अधिक अद्भुत बातें बहुत ही कम होंगी। उसने आरम्भ ही से पूर्वी भाषाओं के अध्ययन करने का निश्चय कर लिया था और वह सन् १८२० में बोखारेस्ट से बिना किसी मित्र या द्रव्य के निकला और पैदल तथा जल में नौका पर यात्रा करता हुआ बगदाद आया। वहाँ से वह तेहरान गया और फिर वहाँ से एक यात्रियों के झुण्ड के साथ खुरासान होते हुए बुखारा पहुँचा। सन् १८२२ में वह काबुल आया और वहाँ से लाहौर और लाहौर से काश्मीर होता हुआ लद्दाख जा कर बसा। उसने इन देशों में बहुत काल तक भ्रमण और निवास किया और सन् १८३१ में वह शिमला में था "जहाँ वह एक मोटे नीले कपड़े का ढीला ढाला अंगा जो कि उसकी एड़ियों तक

लम्बा था और उसी कपड़े की एक छोटी टोपी भी पहिनता था। उसकी कुछ सफेद डाढ़ी थी, वह युरोपियन लोगों से दूर रहता था और अपना समय अध्ययन में व्यतीत करता था।" सन् १८३२ में वह कलकत्ते आया और वहां डाक्टर विल्सन और जेमस प्रिन्सेप साहबों ने उससे बड़ी मिहर्बानी के साथ बर्ताव किया। वहां वह बहुत दिनों तक रहा। सन् १८४२ में उसने फिर कलकत्ते से तिब्बत के लिये प्रस्थान किया परन्तु मार्ग में दार्जिलिंग में ज्वर के कारण उस का देहान्त हो गया। बङ्गाल की एशियाटिक सोसाइटी ने दार्जिलिंग में उसकी कब्र पर एक स्मारक बनवाया है। इस पुस्तक के लेखक ने अभी कुछ ही साल हुए कि दुख और सन्तोष के साथ इस कब्र को जाकर देखा था।

उसने तिब्बत की बौद्ध पुस्तकों के विषय में जो कार्य्य किया था उसका सब आवश्यक वृत्तान्त एशियाटिक रिसर्चेस के बीसवें भाग में दिया है। सोमा साहब के पीछे अन्य विद्वान लोगों ने तिब्बत के उन्हीं बौद्ध ग्रन्थों में परिश्रम किया है और इस विषय में और बहुत सी बातें जानी हैं।

चीन के बौद्ध ग्रन्थों का पूरा संग्रह करने का यश रेवरेण्ड सेम्युएल बील साहब को प्राप्त है। इस कार्य्य के लिये जापान के राजदूत से प्रार्थना की गई थी जोकि इंगलैण्ड आया था और इस प्रार्थना को उन्होंने तुरन्त स्वीकार कर लिया और टोकियो लौटजाने पर उस संपूर्ण संग्रह को इंग्लैण्ड भेजवाया जोकि "दीसेक्रेडट्रीचिंग आफ दी थ्री ट्रेजर्स (तीनों भण्डार के पवित्र उपदेश) के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्रह में दो हजार से अधिक ग्रन्थ हैं और उनमें वे सब पवित्र पुस्तकें हैं जो कि भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से चीन को गई थीं और इन पुस्तकों पर चीन के पुजेरियों की टिप्पणियां भी हैं।

ईसा के लगभग २५२ वर्ष पहिले, अशोक के समय में बौद्ध धर्म और इस धर्म की पुस्तकों का प्रचार लङ्का में किया गया और इस धर्म की सब पुस्तकें आज तक भी लङ्का में पाली भाषा में और प्रायः उसी रूप में जिसमें कि दो हजार वर्ष पहिले वे यहां से गई थीं विद्यमान हैं, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। इन पुस्तकों का मनन बहुत से प्रसिद्ध विद्वानों अर्थात् टर्नर फासबाल, ओडेनबर्ग, चिल्डर्स, स्पेन्स हार्डी

राइज़ डेविड्स्, मेक्समूलर, वेबर और अन्य लोगों ने किया है और बहुत से पाली ग्रन्थ प्रकाशित हो गए हैं तथा उनमें से मुख्य मुख्य अंशों का अनुवाद भी हो गया है।

बर्मा से भी हम लोगों को बौद्ध धर्म्म की बहुत सी बातें विदित हुई हैं और बर्मा के बौद्ध धर्म्म की बहुत सी बातें बिगेण्डेट साहब के लिखे हुए गौतम के जीवनचरित्र में हैं जो कि पहिले पहिल १८६८ में प्रकाशित हुआ था। भारतवर्ष के आस पास के सब देशों में इस बड़े धर्म्म के अमूल्य और विद्वतापूर्ण ग्रन्थ हमें मिलते हैं। केवल भारतवर्ष में ही जो कि इस धर्म्म का जन्मस्थान है और जहां कि यह धर्म्म लगभग १५ शताब्दियों तक रहा है इस उत्तम धर्म्म का कोई नाम लेने योग्य स्मारक नहीं है। भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म, बौद्ध मठों और बौद्ध ग्रन्थों का ऐसा पूर्ण नाश हो गया है!

हमें उपरोक्त विद्वानों की खोज के लिये उन्हें धन्यवाद देना चाहिए कि इस समय अंग्रेज़ी पढ़े लोगों के सामने संसार के भिन्न भिन्न देशों अर्थात् चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा और लङ्का में बौद्ध धर्म्म की उन्नति का अध्ययन करने के लिये काफी उपादान है। इस प्रकार अंग्रेज़ी जाननेवाले लोग इस बात का अध्ययन कर सकते हैं कि इस धर्म्म ने भिन्न भिन्न रूपों भिन्न भिन्न कालों और जीवन और सभ्यता की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में क्या उन्नति की।

परन्तु भारतवर्ष के इतिहासवेत्ता को इस परम मनोरञ्जक कार्य्य से वंचित रहना पड़ेगा। बौद्ध धर्म्म की चीन, तिब्बत, और बर्मा में जो उन्नति हुई उससे भारतवर्ष के इतिहास का कोई साक्षात सम्बन्ध नहीं है। अतएव उसको चाहिये कि वह इन उपादानों में से केवल उन ग्रन्थों को चुने जिनसे कि भारतवर्ष के आरम्भ के बौद्ध धर्म्म का इतिहास विदित होता है। इसके लिये इतिहास उसके उत्पत्ति स्थान का जो कि प्राप्त हो सकता है आश्रय लेना और विशेष कर उन ग्रन्थों पर विश्वास करना आवश्यक है जिन से कि दार्शनिक समय में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म्म की उन्नति का वृत्तान्त विदित होता है।

बौद्ध धर्म्म जिन रूपों में नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान में वर्तमान है वह उत्तरी बौद्ध धर्म्म, और जिन रूपों में वह लङ्का और बर्मा में है वह दक्षिणी बौद्ध धर्म्म कहलाता है। उत्तरी बौद्ध

मतावलम्बी लोगों से हमें बहुत थोड़े सामान मिलते हैं जिस से कि भारतवर्ष में इस धर्म्म के सब से प्रथम रूप का पता लगता है। क्यों कि उत्तर की जातियों ने ईसा के कुछ शताब्दियों के उपरान्त बौद्ध मत को ग्रहण किया और उस समय उन्होंने भारतवर्ष से जो ग्रन्थ पाए उनसे भारतवर्ष के बौद्ध धर्म्म के सब से प्रथम रूप का पता नहीं लगता। ललितविस्तर जो कि उत्तर के बौद्ध लोगों का सब से मुख्य ग्रन्थ है वह केवल एक भड़कीला काव्य है। वह गौतम का जीवन चरित्र इससे बढ़ कर नहीं है जैसा कि "पैरेडाइज़ लास्ट" ईसू का जीवन चरित्र है। सम्भवतः वह नेपाल में ईसा के उपरान्त दूसरी, तीसरी वा चौथी शताब्दी में बनाया गया था यद्यपि उसके कुछ भाग अर्थात् 'गाथा' बहुत पीछे के समय के हैं। चीन में बौद्ध धर्म्म का प्रचार ईसा की पहिली शताब्दी में हुआ परन्तु वह चौथी शताब्दी तक राज्यधर्म्म नहीं हुआ था और जो पुस्तकें उस समय चीन के यात्री लोग भिन्न भिन्न शताब्दियों में भारतवर्ष से ले गए थे उसमें भारतवर्ष के बौद्ध धर्म्म के सब से प्राचीन रूप का वृत्तान्त नहीं है। बौद्ध धर्म्म का प्रचार जापान में ईसा की पांचवीं शताब्दी में और तिब्बत में सातवीं शताब्दी में हुआ। तिब्बत भारतवर्ष के प्राथमिक बौद्ध धर्म्म से बहुत दूर है और उसने ऐसी बातों और ऐसे विधानों को ग्रहण किया है जो कि गौतम तथा उसके अनुयायियों को विदित नहीं थे।

इसके विरुद्ध दक्षिणी बौद्ध मत से हमारे लिये बहुत सा अमूल्य सामान मिलता है। दक्षिणी बौद्धों की पवित्र पुस्तकें तीन पिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं और इस बात को मानने के प्रमाण हैं, कि ये पिटक जो कि अब तक लङ्का में वर्तमान हैं, वास्तव में वे ही पिटक हैं जो कि पटने की सभा में ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले निश्चित हुए थे।

बहुत काल तक बुद्ध की मृत्यु का समय ईसा के ५४३ वर्ष पहिले माना जाता था परन्तु बहुत सी बातों से जो कि गत २० वर्षों में निश्चित हुई हैं विदित होता है कि यह धर्म प्रचारक ने ईसा के ५५७ वर्ष पहिले जन्म लिया था और उसके ४७७ वर्ष पहिले उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पीछे मगध की राजधानी राजगृह में ५०० भिक्षुओं की एक सभा हुई और उन्होंने मिल कर पवित्र नियमों को स्मरण रखने के लिये गाया। इसके १०० वर्ष पीछे अर्थात् ईसा

के ३७७ वर्ष पहिले एक दूसरी सभा वैशाली में हुई जिसका मुख्य उद्देश्य उन दस प्रश्नों पर वादविवाद और निर्णय करने का था जिन पर कि मतभेद हो गया था। इसके १३५ वर्ष पीछे मगध के सम्राट् अशोक ने धर्मपुस्तकों अर्थात् पितकों को अन्तिम बार निश्चित करने के लिये ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले पटने में एक तीसरी सभा की।

यह बात प्रसिद्ध है कि अशोक एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने विदेशों में सीरिया, मेसीडन और ईजिप्ट तक भी इस धर्म्म का प्रचार करने के लिये उपदेशक भेजे थे। उसने ईसा के लगभग २४२ वर्ष पहिले अपने पुत्र महेन्द्र को लङ्का के राजा तिसा के पास भेजा और महेन्द्र अपने साथ बहुत से बौद्ध भिक्षुओं को लेगया और इस प्रकार लङ्का में वे पितक गए जो कि पटने की सभा में अभी निश्चित हुए थे। यह कहना अनावश्यक होगा कि लङ्का के राजा तिसा ने हर्ष के साथ उस धर्म्म को ग्रहण किया जिसकी कि अशोक ने प्रसंशा की थी और जिसका उसके पुत्र ने उपदेश किया था और इस प्रकार ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में लङ्का ने बौद्ध धर्म्म को ग्रहण किया। इसके १५० वर्ष पीछे ये पितक नियमानुसार लिपिबद्ध किए गए और इस प्रकार लङ्का के पाली पतकों में मगध के सब से प्राथमिक बौद्ध धर्म्म का प्रामाणिक वृत्तान्त है।

इन बातों से विदित होगा कि दक्षिणी बौद्धों के तीनों पितक ईसा के २४२ वर्ष से अधिक पहिले के हैं। क्योंकि जो ग्रन्थ सत्कार के योग्य प्राचीन नहीं थे वे पटने की सभा के नियमों में सम्मिलित नहीं किए गए थे। वास्तव में विनयपितक में इस बात के भीतरी प्रमाण मिलते हैं कि इस पितक के मुख्य मुख्य भाग वैशाली की सभा के पहिले अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहिले के हैं क्योंकि विनयपितक के मुख्य मुख्य भागों में उपर्युक्त दसों प्रश्नों के वादविवाद का कोई उल्लेख नहीं है। ये प्रश्न बौद्ध धर्म्म के इतिहास में वैसे ही आवश्यक हैं जैसा कि ईसाई धर्म्म में एरियन का विवाद हुआ है और उन्होंने समस्त बौद्ध भूमि में उसके केन्द्र तक खलबली डाल दी थी। इस से यह अनुमान स्पष्ट होता है कि विनयपितक के मुख्य भाग दूसरी सभा के पहिले के अर्थात् ईसा के ३७७ वर्ष से अधिक पहिले के हैं।

इस प्रकार हमें दक्षिणी बौद्धों के धर्म्मग्रन्थों से गौतम बुद्ध के समय के ठीक पीछे की शताब्दियों में भारतवर्ष के इतिहास के प्रमाणिक उपादान मिलते हैं। क्योंकि तीनों पतिकों के विषय, गौतम की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर ही निश्चित् किए गए और क्रम में लाए गए थे जिस प्रकार कि चारो ईसाई ग्रन्थ ईसा की मृत्यु के पीछे सौ या दो सौ वर्ष के भीतर ही भीतर बनाए और निश्चित किये गए थे। अतएव इन तीनों पितकों से गङ्गा की घाटी के हिन्दुओं के जीवन और हिन्दू राज्यों के इतिहास का वृत्तान्त विदित होता है। और अन्त में उनसे बुद्ध के जीवन कार्य्य और उसकी शिक्षाओं का अधिक प्रामाणिक और कम बनावटी वृत्तान्त मिलता है जो कि उत्तर के बौद्धों से कदापि नहीं मिल सकता। उस समय की हिन्दु सभ्यता को सुचित करने और गौतम के जीवनचरित्र और कार्य्यों के वर्णन के लिये हम इन्हीं तीनों पतिकों से सहायता लेंगे। यदि हम बुद्ध और उसके जीवन के विषय की कुछ बातें जानना चाहें तो अन्य सब मार्गों को छोड़ कर हमें इन्हीं पाली ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिए।

ये तीनों पितक सुत्तपितक, विनयपितक और अभिधम्मपितक के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुत्तपितक में जो बातें हैं वे स्वयं गौतम बुद्ध की कही हुई कही जाती हैं। इस पितक के सब से प्राचीन भागों में स्वयं गौतम ही कार्य्य करनेवाले और वक्ता हैं और उनके सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में कहे गए हैं। कभी कभी उनके किसी चेले ने भी शिक्षा दी है और उसमें यह प्रगट करने के लिये कुछ वाक्य भी दिए गए हैं कि कहाँ और कब गौतम अथवा उनके शिष्य के वाक्य हैं। परन्तु समस्त सुत्तपितक में गौतम के सिद्धान्त और उनकी आज्ञा एवं उन्हीं के शब्दों में रक्षित कही जाती है।

विनयपितक में भिक्षुओं और भिक्षुनियों के आचरण के लिये बहुत सूक्ष्म नियम दिए गए हैं जोकि प्रायः बहुत तुच्छ विषयों पर हैं। गौतम गृहस्थ चेलों अर्थात् उपासकों को भी सत्कार की दृष्टि से देखते थे परन्तु उनका यह मत था कि भिक्षु हो जाना शीघ्र निर्वाण प्राप्त करने का मार्ग है। भिक्षुओं और भिक्षुनियों की संख्याएं जब बढ़ती गईं तो विहार अर्थात् मठ में उनके उचित आचरण के लिये प्रायः बहुत सूक्ष्म विषयों पर बड़े बड़े नियम बनाने की आवश्यकता हुई। अपना मत प्रगट करने के

उपरान्त गौतम ५० वर्ष तक जीवित रहे अतः इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इनमें से बहुत से नियमों को स्वयं उन्हीने निश्चित किया है। इस के साथ ही यह भी निश्चय है कि इनमें से बहुत सूक्ष्म नियम उनकी मृत्यु के पीछे बनाए गए, परन्तु विनयपितक में वे सब स्वयं उन्हीं की आज्ञा से बनाए हुए कहे गये हैं।

और अन्त में अभिधम्मपितक में भिन्न भिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हैं अर्थात् भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं पर, शारीरिक गुणों पर, तत्वों पर, अस्तित्व के कारणों इत्यादि पर विचार किया गया है।

अब हम इन तीनों पितकों के विषयों की एक सूची देते हैं-

सुत्तपितक।

१ दीर्घ निकाय अर्थात् बड़े ग्रन्थ जिनमें ३४ सूत्रों का संग्रह है।

२ मज्झिम निकाय अर्थात् मध्यम ग्रन्थ जिनमें मध्यम विस्तार के १५२ सूत्र हैं।

३ सम्युत्त निकाय अर्थात् सम्बद्ध ग्रन्थ।

४ अंगुत्तर निकाय अर्थात् ऐसे ग्रन्थ जिनमें कई भाग हैं और प्रत्येक भाग का विस्तार एक एक कर के बढ़ता गया है।

५ खुद्दक निकाय अर्थात् छोटे ग्रन्थ। इनमें पन्द्रह ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन हम विस्तार पूर्वक करेंगे--

(१) खुद्दकपाठ अर्थात् छोटे छोटे वचन।

(२) धम्मपद जिसमें धार्मिक आज्ञाओं का एक अच्छा संग्रह है।

(३) उदान जिसमें ८२ छोटे छोटे छन्द हैं और ऐसा कहा जाता है कि इन्हें गौतम ने भिन्न भिन्न समयों में बड़े जोश में कहा था।

(४) इतिवुत्तिक अर्थात् बुद्ध की कही हुई ११० बातें।

(५) सुत्तनिपात जिसमें ७० शिक्षाप्रद छन्द हैं।

(६) विमानवत्थु जिसमें स्वर्गीय महलों की कथाएँ हैं।

(७) पेतवत्थु जिसमें प्रेतों का विषय है।

(८) थेरगाथा जिसमें भिक्षुओं के लिये छन्द हैं।

(९) थेरीगाथा जिसमें भिक्षुनियों के लिये छन्द हैं।

(१०) जातक जिसमें पूर्व जन्मों की ५५० कथाएँ हैं।

(११) निद्देश जिसमें सुत्तनिपात पर सारिपुत्त का भाष्य है।

(१२) पतिसम्भिदा जिसमें अन्तर्ज्ञान का विषय है।

(१३) अपदान जिसमें अरहतों की कथाएँ हैं।

(१४) बुद्धवंश जिसमें गौतम बुद्ध तथा उनके पहिले के २४ बुद्धों के जीवन चरित्र हैं।

(१५) चरियापितक जिसमें गौतम के पूर्व जन्मों के सुकर्मों का वर्णन है।

२ विनयपतिक

१ विभंग। डाक्टर ओडेनबर्ग और डाक्टर रहेज डेविडस साहबों का मत है कि यह पातिमोक्ख का केवल विस्तृत पाठ है अर्थात् भाष्यसहित पातिमोक्ख है। पातिमोक्ख पापों और उनके दंड का सूत्र रूप में संग्रह है जिसका पाठ प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता है और ऐसा समझा जाता है कि इस धर्म्म के अनुयायी जो कुछ पाप करते हैं उसे वे स्वीकार कर लेते हैं और उस पाप से मुक्त हो जाते हैं।

२ खराडक अर्थात् महावग्ग और चुल्लावग्ग।

३ परिवारपाथ जोकि विनयपितक के पूर्व भागों का एक पीछे के समय का संस्करण और परिशिष्ट भाग है। *

३ अभिधम्मपितक

१ धम्मसँगनी जिसमें भिन्न भिन्न लोकों में जीवन की अवस्थाओं का वर्णन है।

२ विभंग जिसमें शास्त्रार्थ की १८ पुस्तकें हैं।

३ कथावत्थु जिसमें विवाद के १००० विषय हैं।

४ पुग्गलपन्नत्ति जिसमें शारिरक गुणों का विषय है।

५ धातुकथा जिसमें तत्वों का वर्णन है।

६ यमक अर्थात् जिसमें एक दूसरे से भिन्न या मिलती हुई बातों का वर्णन है।

७ पत्थान जो अस्तित्व के कारणों के विषय में है।

---

* परन्तु यह अशोक के समय में बनाया गया था और दीपवंश (७, ४२) में लिखा है कि उसका पुत्र महिन्द इसे लङ्का लेगया था। जिन ग्रन्थों को महिन्द लङ्का लेगया था उनके नाम इस प्रकार दिये हैं—पांचो निकाय (सुत्तपितक); सातों (अभिधर्म्म) दोनों विभङ्ग; परिवार और खण्डक (विनय)

ये इन तीनों पितकों के विषय हैं जोकि हम लोगों के लिये रक्षित हैं और जो बुद्ध के जीवन चरित्र और कार्य्यों तथा बौद्ध भारतवर्ष के इतिहास के लिये बड़े प्रमाणिक उपादान हैं। यद्यपि जिस समय ये तीनों पितक निश्चित और संगृहीत किए गए उस समय लोग लिखना जानते थे परन्तु फिर भी सैकड़ों वर्ष तक वे केवल कंठाग्र ही रख कर रक्षित रक्खे गए, जैसे कि भारतवर्ष में वेद केवल कण्ठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गए थे।

"तीनों पितक और उनके भाष्यों को भी।

"प्राचीन समय के बुद्धिमान भिक्षुओं ने केवल मुख द्वारा सिखलाया।"

और ये पवित्र ग्रन्थ ईसा के एक शताब्दी अर्थात् लग भग ८८ वर्ष पहिले लिपिबद्ध किए गए जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं।

यह बात प्रसिद्ध है कि गौतम ने भारतवर्ष के लेखकों और सोचने वालों के पूर्व उदाहरणों पर न चल कर भारतवर्ष के लोगों में अपने धर्म्म का प्रचार केवल सर्वसाधारण की भाषा में किया था, संस्कृत में नहीं। चुल्लवग्ग में (५, ३३,१,) यह कहा गया है कि 'दो भिक्षु भाई थे जिनका नाम यमेलु और उेकुल था। वे ब्राह्मण थे और बोलने तथा उच्चारण करने में निपुण थे।" वे लोग गौतम के पास गए और बोले "हे महाराज इस समय भिन्न भिन्न नाम, कुल, जाति और गोत्र के भिक्षु लोग हो गए हैं। ये लोग अपनी अपनी भाषा से बुद्धों के वाक्यों को नष्ट करते हैं। इस कारण हे महाराज हम लोगों को आज्ञा दीजिये कि हमलोग बुद्धों के वाक्यों की रचना संस्कृत छन्दों [छन्दसोआरोपेम] में करें।" परन्तु गौतम इसे नहीं चाहते थे। वे नम्र तथा नीच लोगों के लिये कार्य्य करते थे, उनका आदेश सर्वसाधारण के लिये था, और इस कारण उनकी यह इच्छा थी कि वे उन्हीं की भाषा में उन्हें सिखलाये जांय। "हे भिक्षुओं, तुम्हें बुद्धों के वाक्य [संस्कृत] छंद में नहीं रचने चाहिए......हे भिक्षुओं मैं तुम्हें आज्ञा देता हूं कि तुम बुद्धों के वाक्य अपनी ही अपनी भाषा में सीखो।"

साधारणतः हम इन तीनों पितकों के लिये उन्हीं वाक्यों का व्यवहार कर सकते हैं जिन्हें डाक्टर र्‍हेज़ डेविड्स और डाक्टर ओल्डनबर्ग ने विनयपितक के लिये व्यवहार किया है "इसका पाठ, जैसा कि वह हम लोगों के सामने है चाहे वह अपने भिन्न भिन्न

भागों के साथ मिलान किया जाय अथवा अपने उत्तरी उसके बचे बचाए भाग के साथ परन्तु वह सब प्रमाणों से ऐसा रक्षित है कि हम लोग इन पाली पुस्तकों को उस प्राचीन मागधी पाठ का प्रमाणिक दर्पण मानते हैं जो कि अधिकांश प्राचीन बौद्ध मठों में स्थिर किया गया था। मगध की भाषा का वह पाठ हम लोगों को कदाचित् अब कभी प्राप्त न होगा और अब हम यह भी आशा नहीं कर सकते कि उस पाठ का कुछ भाग ही हम को मिल जाय। अधिक से अधिक हम लोगों को कुछ शिलालेखों में दो चार वाक्यों के मिलने की सम्भावना है, परन्तु हम लोगों को इन प्राचीन भिक्षुओं का अनुगृहीत होना चाहिए कि उन्हों ने हमारे लिये उस का एक अनुवाद रक्षित रक्खा है जोकि मागधी भाषा से बहुत कुछ मिलती हुई एक भाषा में हैं और वह ऐसी पूर्ण और प्रमाणिक अवस्था में है जैसा कि पाली भाषा का विनयपिटक है।"

अध्याय १२

गौतम बुद्ध का जीवनचरित्र।

ईसा के पहिले छठी शताब्दी में मगध का राज्य बड़ा प्रबल हो रहा था। यह राज्य आज कल के दक्षिणी बिहार में था और गंगा के दक्षिण सोन नदी के दोनो ओर फैला हुआ था। गंगा के उत्तर में लिच्छवि लोगों का एक दूसरा प्रबल राज्य था। मगध के राजा बिम्बिसार की राजधानी गंगा के दक्षिण राजगृह में थी और लिच्छवियों की राजधानी गंगा के उत्तर वैशाली में थी। पूरब की ओर अंग का राज्य अर्थात् पूर्वी बिहार था जिसका उल्लेख मगध के सम्बन्ध में आता है और अंग की राजधानी चंपा में थी। उत्तर पश्चिम की ओर दूर जा कर कोशलों का प्राचीन राज्य था और उसकी राजधानी अयोध्या अथवा साकेत से हटाई जा कर उत्तर की ओर श्रावस्ति में थी जहां कि जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय प्रसेनजित राज्य करता था। दक्षिण की ओर काशी का प्राचीन देश भी उस समय श्रावस्ति के राजा के आधीन जान पड़ता है और प्रसेनजित का एक प्रतिनिधि बनारस में राज्य करता था।

कोशल के राज्य के कुछ पूरब रोहिणी नदी के आमने सामने के

दोनों किनारों पर दो जातियाँ अर्थात् शाक्य और कोलियन जातियां जो कि एक प्रकार से स्वतन्त्र थीं और जिनकी स्वतन्त्रता का कारण उनका बल नहीं था वरन् उसका कारण मगध और कोशल के राजाओं का परस्पर अविश्वास था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी और उन लोगों का उस समय कोलियन लोगों के साथ मेल था। शाक्यों के सर्दार शुद्धोदन ने कोलियन लोगों के सर्दार की दो कन्याओं से विवाह किया था।

शुद्धोदन को इनमें से किसी रानी से भी बहुत वर्षों तक कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ और शाक्यों के उत्तराधिकारी होने की आशा जाती रही। परन्तु अन्त में बड़ी रानी को गर्भ रहा और प्राचीन रीति के अनुसार उन्होंने पुत्र जन्माने के लिये अपने पिता के घर को प्रस्थान किया। परन्तु वहाँ पहुंचने के पहिले ही उसे लुम्बिनी के सोहावने कुंज में पुत्र उत्पन्न हुआ। अतएव लोग रानी और उसके पुत्र को कपिलवस्तु में ले आए और वहाँ रानी सात दिन के उपरान्त मर गई और लड़के को छोटी रानी से पाले जाने के लिये छोड़ गई।

गौतम के जन्म के सम्बन्ध में स्वभावतः बहुत सी कथाएं कही जाती हैं परन्तु यह बात बड़े आश्चर्य की है कि वे कथाएं ईसा मसीह के जन्म की कथाओं से समानता रखती हैं उनमें से एक को हम यहाँ उद्धृत करेंगे। असित ऋषि ने देवताओं को प्रसन्न देखा और देवताओं को प्रसन्न हृदय से सत्कार करके उसने उस समय पूछा 'देवताओं का समूह इतना अधिक प्रसन्न क्यों है और वे अपने कपड़े पकड़ कर क्यों हिला रहे हैं?

"बोधिसत्व जो कि अलौकिक मोती के समान और अद्वितीय है संसार के लोगों के लाभ और सुख के लिये लुम्बिनी के देश में शाक्यों के यहाँ उत्पन्न हुआ है। इस कारण हम लोग हर्षित और बहुत ही प्रसन्न हैं।" यह उत्तर पाकर यह ऋषि शुद्धोदन के यहाँ गया और उसने पूछा "वह राजकुमार कहाँ है? मैं उसे देखा चाहता हूं।"

"तब शाक्यों ने असित को वह पुत्र दिखलाया जो कि बड़े चतुर कारीगर से भट्ठी के मुँह पर तपाए हुए चमकते हुए सोने की नाई प्रताप और सुन्दरता से झलक रहा था।" और ऋषि ने कहा कि यह लड़का पूर्ण ज्ञान को प्राप्त होगा, और धर्म को स्थापित

करेगा और उसके धर्म्म का बड़ा प्रचार होगा (नालक सुत्त) ।

इस पुत्र का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया परन्तु उसके घर का नाम गौतम था। वह शाक्य वंश का था और इसी लिये बहुधा वह शाक्य सिंह भी कहा जाता है और जब उसने अपने सुधार किए हुए मत का प्रचार किया तो वह बुद्ध अर्थात् जागृत या बुद्धिसम्पन्न कहलाया।

गौतम की बाल्यावस्था की बहुत कम बातें विदित हैं। उन्हों ने अपनी ममेरी बहिन अर्थात् कोली के सरदार की पुत्री सुभद्रा वा यशोधरा से १८ वर्ष की अवस्था में विवाह किया। ऐसा कहा जाता है कि गौतम उन शारीरिक कसरतों को नहीं करता था जिन्हें कि उस समय के सब क्षत्री लोग प्रसन्नता पूर्वक करते थे और उसके सम्बन्धी लोग इस बात की शिकायत करते थे। इस कारण उसके गुणों की परीक्षा करने के लिये एक दिन नियत किया गया और ऐसा कहा जाता है कि उस समय शाक्यों के इस राजकुमार ने अपने सब कुटुम्बियों से श्रेष्ठता दिखलाई।

अपने विवाह के दस वर्ष पीछे गौतम ने दर्शनशास्त्र और धर्म्म के अध्ययन के लिये अपना घर और स्त्री छोड़ने का संकल्प किया। इस राजकुमार का अपना घर और अधिकार छोड़ने की कथा सुप्रसिद्ध है। इससे पूर्व उसने बहुत समय तक मनुष्य जाति के पाप और दुःखों के विषय में बड़ी गम्भीरता और दुःख के साथ विचार किया था और उसने धन और अधिकार की व्यर्थता को समझा होगा। अपने सुख अधिकार और धन के बीच रह कर वह गुप्त रीति से इस से भी अधिक कोई वस्तु प्राप्त करना चाहता था जो कि न तो धन और न अधिकार से मिल सकती थी और राजमहल के सुख और विलास के बीच भी उसके हृदय में मनुष्यों के दुःख को दूर करने का उपाय सोचने की एक प्रबल और अनिवार्य कामना उठी। ऐसा कहा जाता है कि एक निर्बल वृद्ध मनुष्य को, एक रोगी मनुष्य को, एक सड़ी हुई लोथ को, और एक योग्य सन्यासी को देख कर उसकी इच्छा अपना घर बार छोड़ने की हुई। इस कहानी में बहुत कम सत्यता है और उस से केवल वे विचार प्रगट होते हैं जो कि उसके हृदय में गृहस्थी के जीवन के दुःखों और संसार से वैराग्य की शान्ति के विषय में उठते थे।

इस समय उसको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऐसा कहा जाता है कि इसका समाचार उसको एक वाटिका में नदी के तट पर

दिया गया और विचार में मग्न इस युवा ने केवल इतना ही कहा "यह एक नया और मजबूत बन्धन है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" इस समाचार से शाक्यों के हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई और राज्य के उत्तराधिकारी के जन्म के उत्सव के गीतों से कपिलवस्तु गूँज उठा। जिस समय गौतम नगर को लौटा तो वह चारों ओर से बधाईयाँ सुनने लगा और उनमें उसने एक युवती को यह कहते हुए सुना कि "ऐसे पुत्र और पति के माता, पिता और स्त्री सुखी हों।" गौतम ने सुखी शब्द से "पापों और पुनर्जन्म से" मुक्ति पाने का अर्थ समझा और उसने अपना मोतियों का हार उतार कर उस युवती को भेज दिया। युवती ने समझा कि राजकुमार मुझ पर मोहित हो गया है। वह बेचारी क्या जानती थी कि राजकुमार के हृदय में कैसे कैसे विचार उत्पन्न हो रहे थे।

उस रात्रि को गौतम अपनी स्त्री के कमरे के द्वार पर गया और वहां उसने जगमगाते हुए दीपक के प्रकाश से बड़े सुख का दृश्य देखा। उसकी युवा पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई पड़ी थी और उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। उसके हृदय में बड़ी अभिलाषा उठी कि सब सांसारिक सुखों को छोड़ने के पहिले वह अन्तिम बेर अपने बच्चे को अपनी गोद में ले परन्तु वह ऐसा करने से रुक गया। बच्चे की माता कदाचित् जाग जाय और उस प्रियतमा की प्रार्थनाएं कदाचित् उसके हृदय को हिला दें और उसके संकल्प में बाधा डाल दें। अतएव वह उस सुखी दृश्य अर्थात् अपने सब सुख, प्रताप और स्नेह के घर से चुप चाप निकल गया। उसी एक क्षण में, उसी रात्रि के अंधकार में उसने सदा के लिये अपने धन सम्मान और अधिकार को, अपनी ऊंची मर्यादा और अपने राजकुमार के नाम को और सब से बढ़ कर अपने सुखी घर के स्नेह को अर्थात् अपनी युवा पत्नी की प्रीति और उसकी गोद में सोए हुए सुकुमार बच्चे के स्नेह को तिलांजलि दे दी। वह यह सब छोड़ कर एक निर्धन विद्यार्थी और गृहहीन पथिक होने के लिये निकल पड़ा। उसके सच्चे नौकर चन्न ने उसके साथ रहने और सन्यासी हो जाने की आज्ञा मांगी परन्तु गौतम ने उसे वापस भेज दिया और वह अकेला राजगृह को चला गया।

हम ऊपर कह चुके हैं कि राजगृह मगधों के राजा बिम्बिसार की

राजधानी थी और वह एक घाटी में पाँच पहाड़ियों से घिरी हुई थी। कुछ ब्राह्मण सन्यासी लोग इन पहाड़ियों की गुफाओं में रहते थे जो कि नगर से अध्ययन तथा ध्यान करने के लिये काफी दूर थीं परन्तु इतनी दूर नहीं थी कि नगर से सामिग्री लाने में कठिनता हो। गौतम पहिले एक अलार नामी सन्यासी के पास रहा और तब उद्रक नामी सन्यासी के पास, और उसने उससे वे सब बातें सीख लीं जो कि हिन्दू दर्शनशास्त्रज्ञ सिखला सकते थे।

परन्तु इससे संतोष न पा कर गौतम ने यह देखना चाहा कि तपस्या करने से क्या दैवी ज्ञान और शक्ति प्राप्त हो सकती है। अतएव वह उरबेला के जंगल में जो कि आज कल के बुद्ध गया के मन्दिर के निकट था गया और पाँच चेलों के सहित उसने छ बरसों तक सब से कठोर तपस्याएं की और दुःख सहे। चारों ओर उसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई क्योंकि अज्ञानी और मिथ्या विश्वासी लोग सदा ऐसी तपस्याओं की प्रशंसा करते हैं। परन्तु गौतम को जिस वस्तु की खोज थी वह उसे न मिली। अन्त में एक दिन वह केवल दुर्बलता के कारण गिर पड़ा और उसके शिष्यों ने समझा कि वह मर गया। परन्तु वह होश में आया और तपस्याओं से कुछ लाभ होने की आशा न पाकर उसने उन्हें छोड़ दिया। जब उसने तपस्या छोड़ दी तो उसके शिष्य लोगों के हृदय से जो कि उसके उद्देश्य नहीं समझते थे उसका सत्कार जाता रहा। वे उसे अकेला छोड़ कर बनारस चले गए।

संसार में अकेला हो कर गौतम निरंजरा नदी के तट पर भ्रमण करने लगा और सबेरे उसे एक दिहाती की कन्या सुजाता से भोजन मिलता रहा और वह प्रसिद्ध बोधी वृक्ष अर्थात् बुद्धि के वृक्ष के नीचे बैठा रहा। इस समय उसे जो मार अर्थात् बुरा भूत ललचाता था उसके विषय में बहुत सी कथाएं कही गई हैं और आश्चर्य है कि ये कथाएं ईसामसीह की कथाओं के सदृश हैं। वह बहुत समय तक विचार करता रहा और अपने गत जीवन के दृश्य उसके हृदय के सामने आते रहे। जो विद्या उसने प्राप्त की थी उसका कोई फल नहीं हुआ, जो तपस्यायें उसने कीं वे भी निरर्थक हुईं, उसके शिष्यों ने उसको संसार में अकेला छोड़ दिया, क्या वह अब अपने सुखी घर को, अपनी प्रिय स्त्री के पास, अपने छोटे बच्चे के पास जो कि अब छ वर्ष का हो गया होगा, अपने प्रिय पिता और

प्रिय प्रजा के पास लौट जाय ? यह [illegible] था, परन्तु इससे संतोष [illegible] काय्यं में उसने अपने को लगाया था उसका क्या होता ? इन्हीं विचारों तथा सन्देह में वह बहुत समय तक बैठा रहता, यहां तक कि सब सन्देह सबेरे के कुहिरे की नाईं दूर हो गए और सत्य का प्रकाश उसकी आंखों के सामने चमकने लगा। यह सत्य क्या था जिसे कि न तो विद्या और न तपस्या सिखला सकी ? उसने कोई नई वस्तु नहीं जानी थी, कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त किया था, परन्तु उसके धार्मिक स्वभाव और उसके दयालु हृदय ने उन्हें बता दिया कि पवित्र जीवन और सबको प्यार करना ही सब पापों की सच्ची तपस्या है। आत्मोन्नति और सब का प्रेम यही नई बात उसने मालूम की थी, यही बौद्ध धर्म्म का सार है।

गौतम के हृदय में जो उद्वेग उठते थे और जिनकी शान्ति इस प्रकार हुई उसका वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में अद्भुत घटनाओं के साथ किया गया है। उनमें लिखा है कि सब मेघाच्छन्न और अंधकारमय था, पृथ्वी और समुद्र हिल रहे थे, नदियां उलटी बह कर अपने उद्गम में जा रही थीं और ऊंचे ऊंचे पहाड़ों की चोटियां नीचे आ गिरी थीं। डाक्टर रहीस डेविड्स साहब ठीक कहते हैं कि इन कथाओं का गूढ़ अर्थ है और ये "पहिले अर्द्ध अलङ्कार प्रयत्न हैं जिन्हें कि हिन्दू हृदय ने एक प्रबल मनुष्य के उद्वेगों को वर्णन करने के लिये किया था।"

गौतम के पुराने गुरु मर गए थे और इसलिये वह अपने पांचों चेलों को यह सत्य प्रगट करने के लिये बनारस गया। मार्ग में उसे उपक नामी एक मनुष्य मिला जो कि आजीवक योगियों के सम्प्रदाय का था। उसने गौतम के गम्भीर और सुखी मुख को देख के पूछा "मित्र तुम्हारा मुख शान्त है और तुम्हारा रंग स्वच्छ और प्रकाशमय है। मित्र तुम ने किस नाम से इस संसार को छोड़ दिया है ? तुम्हारा गुरु कौन है ? तुम्हारे सिद्धान्त क्या हैं ?" इसका उत्तर गौतम ने यह दिया कि मेरा कोई गुरु नहीं है और मैंने सब कामनाओं को दमन करके निर्वाण प्राप्त किया है। उसने कहा कि "मैं संसार के अंधकार में अमरत्व का ढिंढोरा पीटने काशी जा रहा हूं।" उपक ने उसकी बातें नहीं समझी और दो चार बात कह कर उसने कहा "मित्र, कदाचित् ऐसा ही हो।"

यह कह और मूड़ी हिला कर उसने दूसरा रास्ता पकड़ा और चलता बना (महावग्ग १, ६)।

बनारस में सन्ध्या के ठंढे समय गौतम ने मृगदाय में प्रवेश किया और वहां उसे उसके चारों चेले मिले और उसने उन्हें अपने नए सिद्धान्त समझाए।

"हे भिक्षुओ, दो ऐसी बातें हैं जिन्हें उन मनुष्यों को नहीं करना चाहिए जिन्होंने संसार त्याग दिया हो, अर्थात् एक तो उन वस्तुओं की आदत डालनी नहीं चाहिए जो कि मनोविकार से और विशेषतः कामाशक्ति से उत्पन्न होती हैं क्योंकि यह नीच मिथ्या अयोग्य और अलाभदायक मार्ग है जो कि केवल सांसारी मनुष्यों के योग्य है। और दूसरे तपस्याओं को नहीं करना चाहिए जो कि दुखदाई अयोग्य और अलाभदायक हैं।

"हे भिक्षुओ इन दोनों बातों को छोड़ कर एक बीच का मार्ग है जिसे कि तथागत (बुद्ध) ने प्रगट किया है। यह मार्ग नेत्रों को खोलता है और ज्ञान देता है, उससे मन की शान्ति, उच्चतम ज्ञान और पूर्ण प्रकाश अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है!"

और तब उसने उन्हें दुःख, दुःख के कारण, दुःख के नाश और दुःख के नाश करने के मार्ग के सम्बन्ध की बातें बतलाईं। जिस मार्ग का उसने वर्णन किया है उसमें आठ बातें हैं अर्थात् यथार्थ विश्वास, यथार्थ उद्देश्य, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ मनः स्थिति और यथार्थ ध्यान।

और गौतम ने ठीक कहा है कि यह सिद्धान्त "हे भिक्षुओ प्राचीन सिद्धान्तों में नहीं है।" "बनारस में मिगदाय के मठ में बुद्ध ने सत्य के राज्य के प्रधान पहिए को चला दिया है और वह पहिया किसी सामन या ब्राह्मण द्वारा, किसी देवता द्वारा, किसी ब्रह्मा या मार द्वारा और सृष्टि में किसी के द्वारा भी कभी नहीं उलटाया जा सकता।" (धम्म चक्क पवत्तन सुत्त, अंगुत्तर निकाय)।

यह कहना अनावश्यक है कि पहिले के पांचों चेलों ने उसका धर्म स्वीकार किया और वे ही इस धर्म के पहिले सभ्य हुए।

बनारस के धनाढ्य सेठी (महाजन) का पुत्र यश उसका पहिला गृहस्थ चेला हुआ और सुख और धन की गोद में पले हुए इस युवा के धर्म परिवर्तन का वृत्तान्त यहां उल्लेख करने

योग्य है। " उसके तीन महल थे-एक जाड़े के लिये, दूसरा गर्मी के लिये और तीसरा बसंत के लिये।" एक दिन रात्रि को वह नींद से जगा और उसने कमरे में गायिकाओं को अबतक सोते पाया और उनके वस्त्र बालों तथा गाने के साजों को छिन्न भिन्न देखा। इसयुवा ने जो कि प्रत्यक्ष सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था अपने सामने जो कुछ देखा उससे उसे बहुत घृणा हुई और गहिरे विचार में हो कर उसने कहा " अफसोस कैसा दुःख है, अफसोस कैसी विपत्ति है ? " और वह घर से निकल कर बाहर चला गया।

यह प्रभात का समय था और गौतम ने जो कि हवा में इधर उधर टहल रहा था इस व्याकुल और दुःखी युवा को यह कहते हुए सुना " अफसोस कैसा दुःख है। अफसोस कैसी विपत्ति है।" उसने उससे कहा" हे यश यहां कोई दुःख और कोई विपत्ति नहीं है। हे यश यहां आकर बैठो और मैं तुम्हें सत्य का मार्ग सिखलाऊंगा। " और यश ने इस ऋषि आचार्य के मुख से सत्य को सुना।

यश के माता पिता और स्त्री उसे न पाकर सब गौतम के पास आए और उन लोगों ने भी पवित्र सत्य को सुना और वे भी शीघ्र ही गृहस्थ चेले हो गए। (महावग्ग १, ७ और ८)

बनारस में आने के पांच मास के उपरान्त गौतम के ६० चेले हो गए। और उसने उन चेलों को बुलाया और मनुष्य जाति की मुक्ति के लिये उन्हें भिन्न भिन्न दिशाओं में सत्य का प्रचार करने के अभिप्राय से यह कह कर भेजा कि "हे भिक्षुओ अब तुम लोग जाओ और बहुतों के लाभ के लिये, बहुतों की कुशल के लिये, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्य की भलाई लाभ और कुशल के लिये भ्रमण करो। तुम में से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जाओ। हे भिक्षुओ तुम लोग उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो कि आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है, और अन्त में उत्तम है,। सम्पन्न, पूर्ण और पवित्र जीवन का प्रचार करो।" (महावग्ग १, २, १,) इस के उपरान्त किसी धर्म प्रचारक ने अपने धर्म का प्रचार पृथ्वी के छोर तक करने में अधिक पवित्र उत्साह नहीं दिखलाया जैसा कि गौतम के अनुयायियों ने उपरोक्त पवित्र आज्ञा का पालन करके दिखलाया है। गौतम स्वयं उरुवला को गया और यश बनारस में रहा।

उरुवला में गौतम ने तीन भाईयों को अपने धर्म का बनाया जिनका नाम काश्यप था और जो वैदिक धर्म के अनुसार अग्नि

की पूजा करते थे और बड़े प्रसिद्ध सन्यासी और दर्शनशास्त्रज्ञ थे। इससे गौतम की बड़ी प्रसिद्धि हुई। सब से बड़ा भाई उरवला काश्यप और उसके शिष्यगण ने "अपने बाल खोल दिये और अपनी सामग्री तथा अग्निहोत्र की वस्तुएं नदी में फेंक दीं और बुद्ध से पव्वाज्ज और उपसंपदा विधान को ग्रहण किया। उसके भाइयों ने भी जोकि नाड़ी (निरंजरा नदी) पर गया में रहते थे उसका अनुकरण किया। (महावग्ग १, १५-२०)

काश्यपों के धर्मपरिवर्तन से एक बड़ी हलचल मच गई और गौतम अपने नए चेले और एक हजार अनुयायियों को लेकर मगध की राजधानी राजगृह की ओर चला। इस नये धर्म प्रचारक का समाचार शीघ्र राजा को पहुंचा और सेनिय बिम्बिसार बहुत से ब्राह्मण और वैश्यों को साथ लेकर गौतम से मिलने के लिये गया। वहां वह प्रसिद्ध उरवला काश्यप को देख कर यह न जान सका कि इस प्रसिद्ध ब्राह्मण ने गौतम को अपने धर्म में कर लिया वा गौतम ने उसको अपने धर्म में कर लिया है। गौतम राजा के सन्देह को समझ गया और उस पर यह बात विदित करने के लिये उसने काश्यप से पुछा "हे उरवला के निवासी, तुमने क्या ज्ञान प्राप्त किया कि जिससे तुम ने अपनी तपस्या के लिये प्रसिद्ध होकर पवित्र अग्नि की पूजा छोड़ दी।" काश्यप ने उत्तर दिया कि हम ने शान्ति की अवस्था देखी है और हवन तथा बलिदानों में अब हमें प्रसन्नता नहीं मिलती। राजा यह सुनकर आश्चर्यित और हर्षित हुआ और अपने असंख्य अनुचरों के साथ गौतम का अनुयायी हो गया और उसने दूसरे दिन गौतम को अपने साथ भोजन करने को निमंत्रण दिया।

तदनुसार यह अकेला भ्रमण करनेवाला राजा का अतिथि हो कर सत्कार के साथ राजभवन को गया और मगध के समस्त निवासी इस प्रीति के धर्म के बड़े उपदेशक को जोकि अचानक पृथ्वी पर आविर्भूत हुआ था, देखनेके लिये एकत्रित हुए। तब राजा ने गौतम के रहने के लिये निकट में वेलुवन का कुंज नियत किया और वहां गौतम अपने अनुयायियों के साथ कुछ समय तक रहा। थोड़े ही समय में उसने दो प्रसिद्ध व्यक्तियों को अर्थात सारिपुत्र और मोग्गल्लान को अपने धर्म का अनुयायी बनाया। (महावग्ग १, २२-२४)

गौतम के नित्य के जीवन का वर्णन डाक्टर ओडेनबर्ग साहब ने भली भांति किया है। "वह और उसके चेले सवेरे तड़के उठते हैं जिस समय कि आकाश में दिन का प्रकाश दिखलाई देता है और वह तड़के का समय आत्मिक कार्यों तथा अपने चेलों के साथ बात चीत करने में व्यतीत करता है और इसके उपरान्त वह अपने साथियों के संग नगर की ओर जाता है। उन दिनों में जब [illegible] सब से अधिक हो गई थी और जब उसका नाम [illegible] सब से प्रसिद्ध नामों में लिया जाता था यह मनुष्य जिसके सामने राजा लोग भी सिर झुकाते थे, अपने हाथ में खप्पड़ लेकर नित्य गलियों और रास्तों में द्वार द्वार बिना कुछ प्रार्थना किए हुए नीची दृष्टि किए चुपचाप खड़े देखे जाते थे और लोग उसी खप्पड़ में भोजन का एक ग्रास डाल देते थे।

इस प्रकार अपने समय का सबसे बड़ा मनुष्य नित्य द्वार द्वार भिक्षा मांगता था और मनुष्यों और स्त्रियों को अपने धर्म्म का उपदेश करता था क्यों कि मनुष्यों की नांई स्त्रियां भी गौतम के वाक्य सुनती थीं। "स्त्रियों के बाहरी संसार से जुदा रहने की रीति जो उत्तर काल से चली है, प्राचीन भारतवर्ष में बिल्कुल नहीं थी। स्त्रियां मनुष्य के बुद्धि विषयक जीवन में सम्मिलित थीं और भारत वासियों के सबसे अधिक उत्तम और मृदु महाकाव्यों से हम को विदित होता है कि वे उसके धर्म्म को कैसी अच्छी तरह समझती और मानती थीं।"

गौतम का यश अब उसकी जन्मभूमि तक पहुंच गया था और उसके वृद्ध पिता ने उसे एक बार देखने की अभिलाषा प्रगट की। अनन्तर गौतम कपिलवस्तु को गया परन्तु अपने नियमानुसार वह नगर के बाहर कुंज में रहा। उसके पिता और सम्बन्धी लोग वहां उसे देखने गए और दूसरे दिन गौतम स्वयं नगर में गया और उन्हीं लोगों से भिक्षा मांगने लगा जो कि उसे एक समय अपना प्रिय राजकुमार और भाविक सम्राट् समझते थे। फिर ऐसा कहा जाता है कि राजा ने गौतम को इस कार्य के लिये धिक्कारा परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि यह उसकी जाति की रीति है। राजा ने कहा "परन्तु हम लोग एक प्रतापी योधाओं के वंश से उत्पन्न हुए हैं और उन में से कभी किसी ने भी अपने भोजन के लिये भिक्षा नहीं मांगी।" गौतम ने उत्तर दिया "तुम और तुम्हारे वंश की उत्पत्ति

राजा से हुई हो परन्तु मेरी उत्पत्ति प्राचीन बुद्धों से है।" राजा अपने पुत्र को राजभवन में ले गया और वहां उसकी स्त्री को छोड़ कर उसके कुटुम्ब के और सब लोग उससे मिलने के लिये आए। बिचारी त्याग की हुई यशोधरा ने पत्नी के दुःख और पत्नी के घमण्ड के साथ कहा "यदि उसकी दृष्टि में मैं कुछ हूं तो वे स्वयं मेरे पास आवेंगे। मैं यहां उनका स्वागत अधिक उत्तमता से कर सकती हूं।" गौतम इसे समझ गया और अपने साथ केवल दो शिष्यों को लेकर उसके पास गया। और जब यशोधरा ने अपने स्वामी और राजकुमार को सिर मुड़ाए हुए और पीला वस्त्र पहिने हुए एक सन्यासी के वेश में देखा तो वह अपने को न सँभाल सकी। उसने पृथ्वी पर पछाड़ खाई और उसका पैर पकड़ कर आँसू बहाने लगी। तब अपने और उसके बीच में एक भारी अन्तर का ध्यान कर के वह उठी और अलग खड़ी हो गई। उसने उसके नए सिद्धान्तों को सुना और इसके उपरान्त जब गौतम भिक्षुनियों का भी एक सम्प्रदाय स्थापित करने के लिये उत्तेजित किया गया तो यशोधरा सबसे पहिले भिक्षुनी हुई। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं उस समय यशोधरा अपने गृह में रही परन्तु गौतम का पुत्र राहुल गौतम का अनुयायी कर लिया गया।

गौतम के पिता को इस पर बड़ा दुःख हुआ और उसने गौतम को यह नियम स्थापित करने के लिये कहा कि कोई बालक अपने मा बाप की सम्मति के बिना भिक्षुक न बनाया जाय। गौतम ने इसे स्वीकार किया और इसी के अनुसार नियम बनाया (जातक ८७—९०, महावग्ग १, ५४)।

राजगृह लौटते समय गौतम मार्ग में कुछ समय मल्लों के नगर अनुपिया में ठहरा और वहां ठहर कर उसने कोलियन और शाक्य वंशों के बहुत से लोगों को अपना शिष्य बनाया जिनमें के कुछ लोगों का विशेष वर्णन करने योग्य है। शाक्यवंशी अनुरुद्ध अपनी माता के पास गया और उससे भिक्षुक हो जाने की आज्ञा मांगी उसकी माता को उसे रोकने का कोई उपाय न सूझ पड़ा और इस कारण उसने कहा कि" हे प्रिय अनुरुद्ध, यदि शाक्य राजा भद्दिय संसार को त्याग दे तो तू भी भिक्षुक हो जा।"

अतएव अनुरुद्ध भद्दिय के पास गया और यह निश्चय हुआ कि वे दोनों सात दिन में इस आश्रम को ग्रहण करें। 'इस प्रकार

शाक्य राजा भद्दिय और अनुरुद्ध और आनन्द और भगु और किंबिल और देवदत्त जिस प्रकार पहिले अनेक बार बड़ी तय्यारी से आनन्द विलास के लिये जाते थे उसी प्रकार वे सब अब भी निकले और उनके साथ उपाली हज्जाम भी हुआ।

"और जब वे कुछ दूर गए तो उन्हों ने अपने नौकरों को पीछे भेज दिया और उस पार के नगर में आ कर अपनी सब उत्तम वस्तुओं को उतार दिया और उन्हे अपने कपड़ोंमें लपेट कर उपाली हज्जाम से कहा "उपाली, अब तुम जाओ, ये वस्तुएँ तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये बहुत होंगी" परन्तु उपाली दूसरे प्रकार का मनुष्य था और इसलिये वे सातो गौतम के पास गए और उन्हों ने उसका आश्रम ग्रहण किया। और जब भद्दिय ने इस एकान्त धर्म्म को ग्रहण किया तो वह बारबार कहने लगा "वाह सुख! वाह सुख!" और जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा—

"हे स्वामी पहिले जब मैं राजा था तो मेरे भवन के भीतर और बाहर और मेरे देश की सीमा के भीतर मेरे लिये बहुत से रक्षक थे। फिर भी हे प्रभु जब की मेरी इस प्रकार रक्षा की जाती थी तो भी मुझे भय, चिन्ता और सन्देह बना रहता था परन्तु हे प्रभु इस समय जब कि मैं एकान्त में इस जङ्गल में एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ हूं मुझे कोई भय, चिन्ता अथवा सन्देह नहीं है। मैं बड़े सुख से और रक्षित हो कर बैठा हूं और मेरा हृदय ऐसा शान्त है जैसा कि किसी हरिन का हो,, (चुल्लवग्ग ७, १)।

हमने उपरोक्त कथा का इसलिये वर्णन किया है क्यों कि जिन लोगों का उसमें नाम आया है उनमें से कुछ लोग आगे चल कर बड़े प्रसिद्ध हुए। आनन्द गौतम का एक बड़ा प्रिय मित्र हुआ और उसकी मृत्यु के उपरान्त उसने धर्म्म के भजन गाने के लिये राजगृह की सभा में पांच सौ भिक्षुकों को एकत्रित किया, उपाली यद्यपि जाति का हज्जाम था परन्तु वह भिक्षुओं में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विनयपिटक के सम्बन्ध में उसके वाक्य प्रमाण माने जाते थे। इससे यह प्रगट होता है कि गौतम ने जो भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित किया था उसमें जातिभेद बिलकुल नहीं माना जाता था। अनिरुद्ध अभिधम्मपिटक का सब से बड़ा शिक्षक हुआ। देवदत्त आगे चल कर गौतम का विरोधी और मुकाबिला करने वाला हो गया और यह भी कहा जाता है कि

उसने मगध के राजकुमार अजातशत्रु को सम्मति दी कि वह अपने पिता बिम्बसार को मार डाले और तब उसने स्वयं गौतम को मार डालने का भी उद्योग किया। (चुल्लवग्ग ७, २-४) परन्तु ये सब दोष जो कि देवदत्त को लगाए जाते हैं ठीक नहीं समझे जाने चाहिए क्योंकि वह गौतम का मुकाबला करने वाला था।।

गौतम अपना दूसरा बरस अर्थात् बर्सात् का समय राजगृह में बिता कर कोशलों की राजधानी श्रावस्ती को गया जहां कि हम देख चुके हैं कि प्रसेनजित राज्य करता था। वहां बौद्धों को जेतवन का कुंज दिया गया और वहां गौतम बहुधा जाकर उपदेश करता था। भारतवर्ष की सब प्राचीन पुस्तकों की नाईं गौतम की शिक्षा सदा ज़बानी होती थी और लोग स्मरण द्वारा उसे रक्षित रखते थे, यद्यपि उसके समय में लोग लिखना जानते थे।

तीसरा बरस भी राजगृह में व्यतीत हुआ और गौतम ने जिस समय अपना धर्म्म प्रगट किया था उसके चौथे वर्ष उसने गंगा को पार किया और वह वैशाली में गया और वहां महावन के कुंज में ठहरा। वहां से ऐसा कहा जाता है कि रोहिणी नदी के पानी के सम्बन्ध में शाक्यों और कोलियनों में जो झगड़ा था उसे निपटाने के लिये उसने एक अद्भुत यात्रा की। आगामी वर्ष में वह फिर कपिलवस्तु को गया और वहां अपने पिता की मृत्यु के समय जो कि ९७ वर्ष की अवस्था में हुई उपस्थित था।

उसकी विधवा विमाता प्रजापति गौतमी और विधवावत् उसकी स्त्री यशोधरा को अब संसार में कोई बन्धन नहीं थे और इन लोगों ने गौतम के स्थापित किए हुए आश्रम को ग्रहण करने का अनुरोध किया। गौतम ने अब तक स्त्रियों को इस आश्रम में नहीं लिया था और ऐसा करने में उसकी अनिच्छा थी। परन्तु उसकी माता बड़ी हठी थी और वह वैशाली तक उसके साथ गई और उससे अपने आश्रम में ग्रहण किए जाने की प्रार्थना की।

आनन्द उसकी माता के पक्ष में था परन्तु गौतम ने फिर भी उत्तर दिया "नहीं आनन्द, तुम्हें इससे इच्छित न होना चाहिये कि स्त्रियां भी इस आश्रम में ली जांय।" परन्तु आनन्द ने हठपूर्वक पूछा–

"हे प्रभु, क्या स्त्रियां जब गृहस्थधर्म्म को छोड़ दें और बुद्ध के कहे हुए सिद्धान्त और उसकी शिक्षा के अनुसार इस आश्रम को स्वीकार करें तो वे इस योग्य हैं कि धर्म्म के परिवर्तन अथवा दूसरे मार्ग अथवा अरहथ होने का फल प्राप्त कर सकें?"

इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता था। भारतवर्ष में स्त्रियों का सत्कार करना सदा से धर्म्म का एक अंश समझा जाता है और हिन्दू धर्म्म में स्त्रियाँ मुक्ति अथवा स्वर्ग को पाने से वंचित नहीं रक्खी गई हैं। अतएव गौतम ने उत्तर दिया कि "हे आनन्द, वे इस योग्य हैं।" और प्रजापति तथा अन्य स्त्रियाँ भिक्षुनियों की सम्प्रदाय में ले ली गईं और उनके लिये कुछ नियम बनाए गए जिससे कि वे भिक्षुओं के आधीन थीं। (चुल्लवग्ग, १०, १) इसके उपरान्त गौतम प्रयाग के निकट कोशाम्बी में वर्षा ऋतु व्यतीत करने के उपरान्त छठें वर्ष राजगृह को लौटा और वहां उसने बिम्बसार की रानी क्षेमा को अपने आश्रम में ग्रहण किया। कहा जाता है कि उसी वर्ष श्रावस्ती में गौतम ने कई कौतुक दिखलाए और अपनी माता को जो कि उसके जन्म के सात दिन उपरान्त मर गई थी, अपना धर्म्म सिखलाने के लिये वह स्वर्ग को पधारा।

ग्यारहवें वर्ष में गौतम ने बोनेवाले की कहानी कह कर ब्राह्मण भारद्वाज को अपने धर्म्म का बनाया जिसका कि वर्णन करने योग्य है।

काशी भारद्वाज के पांच सौ हल, बोने के समय में नधे हुए थे। वह उस स्थान पर गया जहाँ कि उसके नौकर गरीबों को भोजन बाँट रहे थे और वहां उसने गौतम को भिक्षा के लिये खड़े देखा। इस पर उसने कहा।

"हे सामन, मैं जोतता हूं और बोता हूं और जोत बो कर मैं खाता हूँ। हे सामन, तुझे भी जोतना बोना चाहिए और जोत बो कर तुझे खाना चाहिए।"

भगवत ने कहा "हे ब्राह्मण, मैं भी जोतता और बोता हूँ और जोत बो कर मैं खाता हूँ।

"फिर भी हम लोगों को पूज्य गौतम का जुआ वा हल, वा फाल वा पैना वा बैल नहीं दिखाई देता।" भगवत ने उत्तर दिया "श्रद्धा मेरा बीज है, तपस्या वर्षा है, ज्ञान मेरा जूआ और हल है, विनय मेरे हल का हरिस् वा डंडा है मन मेरा बन्धन है, विचार मेरा फाल और पैना—

"उद्योग मेरा बोझा ढोने का पशु है जो कि मुझे निर्वाण को लेजाता है। वह बिना इधर उधर फिरे हुए उस स्थान को ले जाता है जहां जाने से किसी को दुःख नहीं रह जाता।"

इस पर ब्राह्मण लज्जित हुआ और कुछ अधिक शिक्षा पाने के

उपरान्त गौतम के आश्रम में सम्मिलित हो गया। (सुत्तनिपात काशी भारद्वाजसुत्त)।

दूसरे वर्ष उसने अपने जीवन में सबसे बड़ी यात्रा की और वह मंतल को गया और बनारस हो कर लौटा और तब उसने अपने पुत्र राहुल को जो कि उस समय १८ वर्ष का था, प्रसिद्ध महाराहुलसुत्त का उपदेश दिया। इसके दो वर्ष उपरान्त राहुल ने २० वर्ष का हो कर भिक्षु का आश्रम ग्रहण किया और उसे राहुलसुत्त का उपदेश दिया गया।

दूसरे वर्ष में अर्थात् गौतम के अपने धर्म प्रगट करने के उपरान्त १५ वें वर्ष में वह पुनः कपिलवस्तु में गया और वहां उसने अपने चचेरे भाई महानाम से वार्तालाप किया जो कि शुद्धोदन के उत्तराधिकारी भद्दक के स्थान पर शाक्यों का राजा हुआ था। गौतम के ससुर अर्थात् कोली के राजा सुप्रबुद्ध ने यशोधरा को त्याग करने के लिये गौतम की खुल्लमखुल्ला निन्दा की परन्तु कहा जाता है कि इसके थोड़े ही समय के उपरान्त पृथ्वी उसे निगल गई।

सत्रहवें वर्ष में उसने एक श्रीमती नाम की वेश्या की मृत्यु पर एक व्याख्यान दिया। इसके दूसरे वर्ष उसने एक जुलाहे को संतोष दिलाया जिसकी पुत्री किसी दुर्घटना से मर गई थी। इसके दूसरे वर्ष उसने एक फंदे में फसी हुई हरिन को छुड़वाया और जो अहेरी उस हरिन को मारना चाहता था उसे अपना अनुयायी बनाया। और इसी प्रकार २० वें वर्ष में उसने चलियवन के प्रसिद्ध डाकू अंगुलीमाल को भी अपना अनुयायी बनाया।

इसके उपरान्त २५ वर्षों तक गौतम गंगा की घाटी में घूमता रहा। दुःखी और दीन लोगों में उपकार और पवित्र जीवन का उपदेश करता रहा, ऊंच और नीच, धनवान और निर्धन लोगों को वह अपना मतावलम्बी बनाता रहा और उस भूमि में अपने नियमों को प्रकाशित करता रहा। उसके परोपकारी पवित्र जीवन और उसके सहानुभूति के पवित्र धर्म की बड़ी विख्याति हुई। उसे उसके अनुयायी लोग तथा कट्टर हिन्दू लोग दोनों ही सम्मान सत्कार की दृष्टि से देखते थे, जातियां और उनके राजा लोग इस देव तुल्य सुधारक के सिद्धान्तों का सत्कार करते रहे जिसके वाक्य दया और परोपकार से भरे हुए थे, और जब गौतम ८० वर्ष की अवस्था में मरा उस समय बौद्ध धर्म ने इस भूमि में बह

प्रबलता ग्रहण कर ली थी जो कि "किसी सामन वा ब्राह्मण द्वारा किसी देवता द्वारा, किसी ब्रह्मा वा मार द्वारा तथा संसार में किसी और द्वारा भी नहीं हटाई जा सकती थी।"

गौतम अपने नए धर्म्म को प्रकाशित करने के उपरान्त ४५ वर्ष तक जीवित रहा और उसकी मृत्यु ईसा के ४७७ वर्ष पहिले मानलेने से उसके जीवन की मुख्य २ घटनाओं का क्रम इस प्रकार होगा—

कपिलवस्तु के निकट जन्म ...	ईसा के	५५७ वर्ष पहिले
यशोधरा से उसका विवाह ...	" "	५३८ " "
उसका घर, स्त्री और पुत्र को छोड़ना	" "	५२८ " "
उसने बुद्ध गया में सर्वज्ञता प्राप्त की और बनारस में अपना धर्म्म प्रगट किया	" "	५२२ " "
वह अपने नगर में गया ...	" "	५२१ " "
उसके पिता शुद्धोदन की मृत्यु और उसकी सौतेली माता और पत्नी का भिक्षुनी होना	" "	५१७ " "
उसका पुत्र राहुल भिक्षु हुआ ...	" "	५०८ " "
यशोधरा के पिता की मृत्यु ...	" "	५०७ " "
गौतम की मृत्यु ...	" "	४७७ " "

सौभाग्यवश हमें उसकी मृत्यु के पहिले की घटनाओं का प्रायः पूर्ण वृत्तान्त दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त में मिलता है और अब हम इन्हीं बातों का उल्लेख करेंगे।

गौतम की अवस्था अब ८० वर्ष की थी और जिन लोगों में उसने अपनी युवा अवस्था में कार्य्य किया था वे अब नहीं थे। उसकी युवा अवस्था के परिचित लोगों में से बहुत से मर गए थे और वह वृद्ध महात्मा अब उनके पुत्र और पौत्रों को उन्हीं पवित्र नियमों का उपदेश करता था जिनका उपदेश कि उसने पहिले उनके पिता और दादाओं को दिया था। उसके बहुत से प्रिय मित्र मर गए थे परन्तु उसका सच्चा मित्र आनन्द अब तक भी छाया की नाईं उसका साथ दे रहा था और उसकी आवश्यकताओं का प्रबन्ध करता था। राजगृह का वृद्ध राजा भी अब नहीं था, अब उसका लड़ाका और लालची पुत्र अजातशत्रु मगध की गद्दी पर (कहा जाता है कि अपने पिता को मार कर) बैठा था और अब विजय करने के मनसूबे बाँध रहा था। अजातशत्रु का यह सिद्धान्त नहीं था कि वह गौतम के समान इतने प्रसिद्ध और सर्वपूज्य मनुष्य की हानि करे और

इस कारण अजातशत्रु उसका कम से कम ऊपर से सत्कार करता था।

प्रबल विज्जैन जाति पर जो कि मगध के सामने गंगा के उत्तरी किनारे पर मैदान में रहती थी अजातशत्रु का ध्यान पहिले पहिल गया। ये तुरानी जाति के लोग थे जो कि भारतवर्ष में उत्तरी पर्वतों के मार्ग से आए थे और उन्होंने हिन्दू सभ्यता के स्वयं केन्द्र में एक प्रकार का प्रजातंत्र राज्य स्थापित कर लिया था और अब सब मगध को बिजय करने को डरा रहे थे। कदाचित ये लोग उसी यूची* जाति के थे जिन्होंने कि ४ वा ५ शताब्दियों के उपरान्त काश्मीर और पश्चिमी भारतवर्ष को जीत लिया था और जो कनिष्क के आधीन बौद्ध धर्म के बड़े प्रबल सहायक हो गए थे।

अजातशत्रु विदेहिपुत्र † ने अपने मन में कहा "मैं इन विज्जैनों को जड़ से निकाल दूंगा यद्यपि वे बड़े प्रबल हैं। मैं इन विज्जैनों को नष्ट कर दूंगा, मैं इन विज्जैनों का पूरा नाश कर डालूंगा।"

गौतम उस समय उन पाँचों पहाड़ियों में से सब से ऊंची पहाड़ी की एक गुफा अर्थात् गृद्धकूट में रहता था जो कि राजगृह की सुन्दर घाटी के निकट है। अजातशत्रु ने जो कि भविष्यत बाड़ी में कुछ विश्वास रखता था अपने प्रधान मंत्री वस्सकार को गौतम के पास यह पूछने के लिये भेजा कि विज्जैनों के विरुद्ध इस आक्रमण का किस प्रकार अन्त होगा। गौतम राजाओं का सत्कार करनेवाला नहीं था और उसने उत्तर दिया कि जब तक विज्जैन लोग अपनी प्राचीन रीतियों को रखते हुए एका रखेंगे तब तक "हम आशा करते हैं कि उनका पतन नहीं होगा वरन् उनका कल्याण होगा।"

गृद्धकूट से गौतम ने उसके निकट के स्थानों में अर्थात् अम्बलट्ठिका, नालन्द और पाटलीग्राम अर्थात् मगध की भविष्यत राजधानी पाटलीपुत्र में भ्रमण किया। गौतम के समय में यह एक तुच्छ गाँव था परन्तु मगध के प्रधान मंत्री सुनीध और

---

* बील साहब की "बुद्धिज़्म इन चाइना" नामक पुस्तक का ४३ वाँ पृष्ठ देखो।

† इस नाम से यह प्रगट होता है कि इस राजा की माता प्राचीन विदेह वंश की कन्या थी। उस समय में लोग बहुधा अपनी माता के नाम से भी पुकारे जाते थे और तदनुसार गौतम का प्रसिद्ध चेला उपतिस्स सदा सारिपुत्र के नाम से सुप्रसिद्ध था।

विस्सकार इस पाटलीग्राम में विज्जैनों को निकालने के लिये एक किला बनवा रहे थे। यह उस नगर की उत्पत्ति का कारण है जोकि चन्द्रगुप्त और अशोक की राजधानी हुआ। यह लग भग १००० वर्षतक भारतवर्ष की राजधानी रहा और अब तक भी भारतवर्ष के सब से बड़े नगरों में गिना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि गौतम ने इस स्थान के प्रसिद्ध होने की भविष्यत वाणी की थी। उसने आनन्द से कहा था कि "काम काजी मनुष्यों के प्रसिद्ध निवासों और अड्डों में यह स्थान प्रधान होगा, यह पाटलीपुत्र का नगर होगा जो कि सब प्रकार के असबाबों के लेन देन का केन्द्र होगा।"

अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार और सुनीध ने यहां गौतमको निमंत्रण दिया और उसे भात और मीठी चपातियां खिलाईं और इसके उपरान्त गौतम यहां से चला गया और कहा जाता है कि उसने गंगा को जो कि उस समय भरपूर बढ़ी हुई थी एक कौतुक से अर्थात् किसी नाव बेड़े को न लेकर यों ही पानी पर चलकर पार किया।

तब वह कोटिग्राम में गया और वहां से नादिक में जहां कि वह उस ईंटों के बने घर में ठहरा जो कि यात्रियों के ठहरने की जगह थी। वहां पर उसने आनन्द को वह सारगर्भित उपदेश दिया जिसके द्वारा प्रत्येक चेला यह स्वयं जान सकता था कि उसने निर्वाण प्राप्त किया अथवा नहीं। यदि उसे यह ज्ञान हो और यदि वह अपने मन में इसे मालूम कर सके कि बुद्ध में उसका विश्वास है, धर्म्म में उसका विश्वास है और उसको संघ में उसका विश्वास है तो उसकी मुक्ति हो गई। बुद्ध, धर्म्म, और संघ ये ही बुद्ध धर्म्म के तीन मुख्य सिद्धान्त हो गए।

नादिक से गौतम वैशाली में आया जो कि गंगा के उत्तर प्रबल लिच्छवि लोगों की राजधानी है। अम्बपालि नामक एक वेश्या ने सुना कि यह महात्मा यहां आया है और उसकी आम की बाड़ी में ठहरा है। वह उससे मिलने गई और उसने उसे भोजन के लिये निमंत्रित किया और गौतम ने उसका निमंत्रण स्वीकार किया।

"अब वैशाली के लिच्छवि लोगों ने सुना कि बुद्ध वैशाली में आया है और अम्बपाली की बाड़ी में ठहरा है। उन लोगों ने बहुत सी सुन्दर गाड़ियां तय्यार करवाईं और उनमें से एक पर चढ़ कर वे अपने मनुष्यों के सहित वैशाली को गए। उनमें से कुछ काले रंग के और काला कपड़ा और आभूषण पहिने हुए थे, कुछ

लोग गोरे, सफेद रंग के उज्वल वस्त्र और आभूषण पहिने हुए थे, कुछ लोग लाल थे और लाल रंग के वस्त्र तथा लाल आभूषण पहिने हुए थे, तथा कुछ लोग सुन्दर रंग के थे और सुन्दर वस्त्र और आभूषण पहिने हुए थे ।

"और अम्बपाली युवा लिच्छवियों के बराबर, उनके पहिये के बराबर अपना पहिया और उनके धुरे के बराबर अपना धुरा और उनके जोते के बराबर अपना जोता किए हुए हाँक रही थी और लिच्छवि लोगों ने अम्बपालि वेश्या से पूछा कि अम्बपाली यह क्या बात है कि तू हम लोगों के बराबर अपना रथ हाँक रही है ?

उसने उत्तर दिया "मेरे प्रभु, मैंने बुद्ध और उसके साथियों को कल भोजन के लिये निमंत्रण दिया है।"

उन लोगों ने कहा "हे अम्बपालि, हम लोगों से एक लाख रुपया लेकर यह भोजन हमें कराने दे।"

'मेरे प्रभु यदि मुझे आप सब वैशाली तथा उसके आधीन का राज्य दे दें तब भी मैं ऐसा नीति का उपकार नहीं दूंगी।"

"तब लिच्छवि लोगों ने यह कह कर अपना हाथ पटका कि हम लोग इस अम्बपाली लड़की से हरा दिए गए, यह अम्बपाली लड़की हम लोगों से बढ़ गई और यह कहके वे अम्बपाली की वाड़ी तक गए।"

वहां उन लोगों ने गौतम को देखा और कल के दिन उसे भोजन के लिये निमंत्रित किया परन्तु गौतम ने उत्तर दिया कि "हे लिच्छवियो मैंने कल के लिये अम्बपाली वेश्या का निमंत्रण स्वीकार कर लिया है।" और अम्बपाली ने गौतम और उसके साथियों को मीठा चावल और रोटियां खिलाईं और उनकी सेवा में उपस्थित रही यहां तक कि उन लोगों ने कहा कि वे लोग अधिक नहीं खा सकते और तब उसको विदा और आदेश दिया गया, "हे प्रभु मैं यह महल भिक्षुओं की उपयोग के लिये देती हूं जिसका कि नायक बुद्ध है" और यह दान स्वीकार किया गया।

अम्बपाली की वाड़ी से गौतम वेलुव को गया। उसने अपनी मृत्यु निकट आती देखी और अपने सबसे प्रिय आनन्द से कहा "अब मैं बुड्ढा और बहुत वर्षों का हो गया हूं, मेरी यात्रा समाप्त होने आई है मेरे दिन अब पूरे हो गए हैं, मेरी अवस्था ८० वर्ष की हो गई है"""अतएव हे आनन्द ! तुम लोग स्वयं अपने लिये प्रकाश हो।

तुम लोग स्वयं अपने रक्षक हो। किसी बाहरी रक्षक की शरण मत लेना, प्रकाश की भांति सत्य में दृढ़ रहना, रक्षक की भांति सत्य में दृढ़ रहना।"

चापाल चेतिय में गौतम ने एक व्याख्यान दिया है जिसमें उसने चार प्रकार के मनुष्यों का वर्णन किया है अर्थात् अमीर लोग, ब्राह्मण लोग, गृहस्थ और सामन और चार ही प्रकार के फिरिश्तों को लिखा है अर्थात् फिरिश्ते, बड़े तेंतीस, मार और ब्रह्मा।

कूटगार में गौतम ने एक बार फिर अपने चेलों को अपने धर्म्म का मूल तत्व और सार बतलाया और उनसे उनका अभ्यास और उन पर विचार करने के लिये और उनको फैलाने के लिये कहा "जिसमें कि पवित्र धर्म्म बहुत काल तक ठहरे और सदा के लिये दृढ़ हो जाय और जिसमें यह बहुत से लोगों के लिये भलाई और सुख का कारण हो।"

वैशाली में अन्तिम बार आकर वह पुनः भण्डग्राम, हस्तिग्राम, अम्बग्राम, जम्बुग्राम, और भोगनगर में घूमा और तब पावा को गया। वहां चुन्द ने जो कि सोनार और लोहार था उसे भोजन के लिये निमंत्रित किया और उसे मीठा चावल और चपातियाँ और कुछ सुखाया हुआ सूअर का मास दिया। गौतम दरिद्रों की दी हुई वस्तुओं को कभी अस्वीकार नहीं करता था परन्तु सूअर का मास उसकी इच्छा के विरुद्ध था। "जब जब कि बुद्ध ने धातु के काम बनानेवाले चुंद का बनाया हुआ भोजन खाया तो उसे एक भयानक रोग अर्थात् अतिसार का रोग हुआ और मृत्यु के समय तक भी उसे बड़ी पीड़ा होती रही परन्तु बुद्ध ने जो कि सचेत और पूर्ण संयमी था उसे बिना किसी खेद के सहन किया।" पावा से कुसी नगर को जाते समय मार्ग में गौतम ने एक नीच जाति के मनुष्य पुक्कुस को बौद्ध बनाया। कुसिनगर में जो कि कपिलवस्तु से ८० मील पूरब है, गौतम को विदित हुआ कि उसकी मृत्यु निकट है। जिस रात को मृत्यु होने वाली थी उसकी संध्या को उसने सहानुभूति के साथ अपने चेलों के हृदय पर यह बात जमाने का यत्न किया कि चुन्द ने जो भोजन दिया था उसके लिये वह दोषी नहीं है, परन्तु उसने यह अनुग्रह के साथ दिया था अतएव वह जीवन की वृद्धि, अच्छे जन्म और अच्छे भाग्य को पावेगा।

कहा जाता है कि उसकी मृत्यु के पहिले वृक्षों में बिना ऋतु के

फूल लगे और उस पर फूलों की वृष्टि हुई, उसके ऊपर स्वर्ग के फूल और चन्दन का चूरा बरसा और आकाश से गाने और स्वर्ग के गीतों का शब्द सुनाई दिया। परन्तु पवित्र जीवन के इस बड़े धर्म्मप्रचारक ने कहा " हे आनन्द इस प्रकार से तथा गत (बुद्ध) का ठीक तरह से आदर सत्कार वा उसकी पूजा नहीं होती। परन्तु वह भाई वा बहिन, वह तपस्वी पुरुष वा स्त्री जोकि बराबर अपने सब छोटे और बड़े धर्मों का पालन करता है। जिसका जीवन ठीक है, जो आज्ञाओं के अनुसार चलता है वही तथागत को सब से योग्य सत्कार के साथ मानता, सत्कार करता और उसकी पूजा करता है।" इन उत्तम वाक्यों से किसको बाइबिल के पवित्र वाक्यों का स्मरण नहीं आता जिसे कि एक इसाई कवि ने यों छन्दोबद्ध किया है।

But thou hast said, the flesh of goat.
The blood of ram, I would not prize.
A contrite, heart an humble thought.
Are my accepted sacrifice.

जिस रात्रि को गौतम मरा उस रात्रि को कुसिनगर का एक दर्शनशास्त्रज्ञ ब्राह्मण सुभद्र कुछ प्रश्न पूछने आया परन्तु आनन्द इस डर के मारे उसे नहीं आने देता था कि यह मृत्युशय्या पर पड़े हुए बुद्ध को बड़ा दुःखदाई होगा। परन्तु गौतम ने उन लोगों की बातें सुन ली थीं और वह ऐसे मनुष्य को वापस नहीं भेज सकता था जोकि शिक्षा के लिये आया था। उसने आज्ञा दी कि ब्राह्मण यहां आने पावे और अपने मरते दम से उसने उसे अपने धर्म्म के सिद्धान्त सिखलाए। सुभद्र गौतम का अन्तिम चेला था और कुछ ही समय उपरान्त रात्रि के अन्तिम पहर में इस बड़े महात्मा ने अपने भाइयों को यह सत्योपदेश करते हुए इस जीवन को त्याग दिया कि " सब एकत्रीतभूत वस्तुओं का नाश स्वाभाविक है, परिश्रम के साथ अपनी मुक्ति पाने का यत्न करो।"

कुसीनगर के मल्लों ने गौतम के शरीर का दाह किया और उसकी हड्डियों को अपने भवन में भालों और धनुषों से घेर कर रक्षित रक्खा और वहां सात दिन तक नाच और गाने तथा मालाओं और सुगन्धि से उनका सत्कार तथा पूजन किया।

कहा जाता है कि गौतम की हड्डियों के आठ भाग किए गए। मगध के अजातशत्रु ने एक भाग पाया और उस पर राजगृह में

एक इमारत बनवाई। वैशाली के लिच्छवियों ने दूसरा भाग पाया और उस पर उस नगर में एक इमारत बनवाई गई। इसी प्रकार कपिल-वस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने, पावा के मल्लों ने, कुसिनगर के मल्लों ने और एक ब्राह्मण वेथदीपक ने उसके एक एक भाग पाए और उन पर इन सभों ने इमारतें बनवाईं। पिप्फलिवन के मोरियन लोगों ने जिन लकड़ियों से वह जलाया गया था उसके शेष भाग पर और ब्राह्मण द्रोन ने उस बर्तन पर जिस पर कि उसकी देह जलाई गई थी, इमारतें बनवाईं।

अध्याय १३

गौतम बुद्ध के सिद्धान्त।

यह सम्भव नहीं है कि हम केवल एक अध्याय में अपने पाठकों को उस धर्म के सिद्धान्तों का पूरा सारांश दे सकें जो कि इतने अधिक प्रसिद्ध और योग्य विद्वानों के लिये इतने कठिन और विद्वत्ता पूर्ण खोज का विषय हो रहा है। यहां पर हमारा उद्देश्य केवल उन शिक्षाओं और सिद्धान्तों के सारांश के देने का होगा जिनकी शिक्षा गौतम अपने अनुयायियों को देता था।

बौद्ध धर्म का सारांश एक प्रकार की आत्मोन्नति और आत्मनिरोध है। इस मत में सिद्धान्त और विधिन्यास अप्रधान अंग हैं। गौतम ने जिस दिन बुद्धगया में बोधि वृक्ष के नीचे सर्वज्ञता प्राप्त की थी उस दिन उसके हृदय में जो मुख्य विचार उठा था वह लोभ और कामनाओं से रहित पवित्र जीवन निर्वाह करने से मनुष्यों के दुःखों को दूर करने का था और इसी मुख्य विचार की शिक्षा उसने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक दी।

जब वह बुद्धगया से बनारस गया और वहां अपने पांचों पुराने चेलों को उसने अपने धर्म की शिक्षा दी तो उसने इन्हें चारों सत्य और आठो मार्ग बतलाए जो कि बौद्ध धर्म के सार हैं।

"हे भिक्षुओं यह दुःख का उत्तम सत्य है। जन्म दुःख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है, । मृत्यु दुःख है। जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं उनका उपस्थित होना दुःख है, जिन वस्तुओं की हम अभिलाषा करते हैं उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पांचों कामनाओं में लगे रहना (अर्थात् पाँचों तत्वों में लिप्त रहना) दुःख है।

हे भिक्षुओ दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है। लालसा पुनर्जन्म का कारण होती है जिसमें कि सुख और लालच होते हैं और जो इधर उधर शान्ति पाता है—(यह लालसा तीन प्रकार की होती है) अर्थात् सुख की लालसा, जीवन की लालसा और फलने फूलने की लालसा। हे भिक्षुओ दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है। वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है। यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य्य चलाने से, उससे मुक्ति पाने से और कामना का नाश करने से होता है।

"यह उस मार्ग का उत्तम सत्य है जिससे कि दुःख दूर होता है। वह पवित्र आठ प्रकार का मार्ग यह है अर्थात्—

(१) सत्य विश्वास (२) सत्य कामना (३) सत्य वाक्य (४) सत्य व्यवहार (५) जीवन निर्वाह करने के सत्य उपाय (६) सत्य उद्योग (७) सत्य विचार (८) सत्य ध्यान" (महावग्ग १, ६)

इस शिक्षा का सारांश यह है कि जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःख का कारण है, उस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर सकती है। इन आठ विधियों में जिनमें कि पवित्र जीवन विभाजित किया गया है, जो जो बातें भरी हुई हैं उनका वर्णन कुछ शब्दों में करना असम्भव है परन्तु उन बौद्धों के लिये जो कि अपने धर्म्म की कथाओं में शिक्षित हैं ये आठों विधियां कई ग्रन्थों के बराबर हैं। शुद्ध विचार और विश्वास को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिए, उच्च उद्देश्य और कामनाएँ हृदय के नेत्र के सामने सदा उपस्थित रहनी चाहिये, जो वाक्य बोले और उनमें से प्रत्येक शब्द में सत्यता और सुशीलता होनी चाहिए और व्यवहार में सभ्यता और पूर्ण शुद्धता होनी चाहिए। जीवन का उपाय इस प्रकार का ढूंढ़ कर ग्रहण करना चाहिए जिससे कि किसी जीवित या सचेतन प्राणी को कोई कष्ट न हो, भलाई करने में, तथा दया सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिए। मन और बुद्धि सचेतन और कार्य तत्पर होनी चाहिये, और शान्त और धीर विचार से जीवन को सुख प्राप्त होता है। यह कामना, मनःक्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है। इससे अधिक उत्तम जीवन का चित्र

किसी कवि वा मनमौजी ने कभी नहीं सोचा और आत्मोन्नति का इससे अधिक पूर्ण मार्ग किसी दर्शनशास्त्रज्ञ वा महात्मा ने कभी नहीं प्रकाशित किया।

आत्मोन्नती का विचार, उस ध्यान के बड़े और प्रयोगिक समय में जिसमें कि गौतम ने अपना जीवन व्यतीत किया, निस्सन्देह सुधारा गया। अपनी मृत्यु के दिन उसने अपने भाइयों को बुलाया और आत्मोन्नति के पूरे मार्ग को सात भागों में करके संक्षेप में फिर व्याख्यान दिया और ये सातों बौद्ध धर्म के सात रत्न कहे जाते हैं।

हे भाइयो, तब वे सत्य कौन हैं जिनको कि मैं ने मालूम कर के तुम से प्रगट किया, जिनका कि जब तुम लोगों ने उन्हें अच्छी तरह जान लिया, अभ्यास करना, उन पर विचार करना, और उनका प्रचार करना तुम्हारे लिये आवश्यक है जिसमें कि वह पवित्र धर्म अधिक समय तक ठहरे और चिरस्थायी हो जाय, जिसमें कि वह बहुत से लोगों के सुख और भलाई के लिये, संसार की दया के लिये, मनुष्यों और देवताओं की भलाई और लाभ सुख के लिये, स्थिर रहे ? " वे ये हैं—

(१) चारो उनके ध्यान, (२) पाप के विरुद्ध चारो प्रकार के बड़े प्रयत्न, (३) महात्मा होने के चारो मार्ग, (४) पांचो धार्मिक शक्तियां. (५) आत्मीय ज्ञान की पांचो इन्द्रियां, (६) सातों प्रकार की बुद्धि और, उत्तम आठ प्रकार का मार्ग" (महापरिनिब्बानसुत्त ३, ६५)

यहां भी इन सब शिक्षा के नियमों में जो विचार भरे गए हैं उन का यथार्थ ज्ञान कुछ शब्दों में देना असम्भव है, इस शिक्षा के विषय पर एक ग्रन्थ लिखा जा सकता है। जिन चारों, पहले ध्यानों का उल्लेख है वे देह, ज्ञान, विचार और कारण के विषय में है। चारों पापों के विरुद्ध जिस प्रयत्न का उल्लेख है वह पाप को रोकने का प्रयत्न, पाप की जो अवस्थाएँ उठती हैं उनको रोकने का प्रयत्न, भलाई करने का प्रयत्न, और भलाई को बढ़ाने का प्रयत्न है। वास्तव में इन चारों प्रयत्नों से पापी के सारे जीवन तक अधिक भलाई करने के लिये सच्चा और निरन्तर उद्योग करने का तात्पर्य है। महात्मा होने के चारों मार्ग वे हैं जिनसे कि ऋद्धि अर्थात् इच्छा, प्रयत्न, तयारी और खोज प्राप्त होती है। उत्तर काल के बौद्ध धर्म में ऋद्धि का तात्पर्य अमानुषिक शक्तियों से है परन्तु

गौतम का तात्पर्य्य सम्भवतः उस प्रभाव और शक्ति से था जिसे कि बहुत समय तक शिक्षा और अभ्यास के द्वारा मन इस देह के ऊपर प्राप्त कर सकता है। पांचों धार्मिक शक्तियां और आत्मीय ज्ञान की शक्तियां ये हैं--विश्वास, पराक्रम, विचार, ध्यान और बुद्धि, और सात प्रकार की बुद्धियां ये हैं-शक्ति, विचार, ध्यान, खोज, आनन्द, आराम और शान्ति। आठ प्रकार के मार्ग का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है।

इस प्रकार की विस्तृत आत्मोन्नति के द्वारा दसों बन्धनों अर्थात् सन्देह, कामासक्ति इत्यादि को तोड़ने से अन्त में निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।

" जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है और शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने को सब ओर से स्वतंत्र कर लिया है जिसने सब बंधनों को तोड़ डाला है उसके लिये कोई दुःख नहीं है।

" वे लोग अपने विचारों को भली प्रकार संग्रह कर के विदा होते हैं, वे अपने घर में सुखी नहीं रहते, उन राजहंसों की नाईं जिन्होंने कि अपनी झील को छोड़ दिया है वे लोग अपना घर द्वार छोड़ देते हैं।

" उसका विचार शान्त है, उसका वचन और कर्म शान्त है जो कि सच्चे ज्ञान के द्वारा स्वतंत्र हो गया है और जो कि शान्त मनुष्य हो गया है।" (धम्मपद ९०, ९१, ९६)

यह बहुधा विश्वास किया जाता था कि निर्वाण का अर्थ अन्तिम नाश अथवा मृत्यु से है और प्रोफेसर मेक्समूलर साहब ने इस बात को पहिले पहिल दिखलाया था और उसे अब बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है कि निर्वाण का अर्थ मृत्यु से नहीं है परन्तु उसका तात्पर्य्य मन की उस पापी अवस्था, जीवन और उसके सुखों की लालसा के नाश होने से है जिससे कि नया जन्म होता है। गौतम का निर्वाण से जो तात्पर्य्य था वह जीवन में ही प्राप्त हो सकता है। उसे उसने अपने जीवन में प्राप्त किया था, वह वही मन की पापरहित शान्त अवस्था, अभिलाषाओं और लोभ से मुक्ति, पूर्ण शान्ति भलाई और ज्ञान की अवस्था है जो कि निरन्तर आत्मोन्नति करने से मनुष्य को प्राप्त होती है। र्हैसडेविड्ज़ साहेब कहते हैं कि 'बौद्धों का स्वर्ग मृत्यु नहीं' है और पिटकों में परमानन्द की जिन अवस्थाओं का वर्णन है

(जो अरहतों को प्राप्त हैं) वे मृत्यु के उपरान्त नहीं प्राप्त होतीं परन्तु यहीं और इसी समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने से मिलती हैं।

परन्तु जिन लोगों ने निर्वाण प्राप्त कर लिया है उनके लिये यहां और इस समय धार्मिक जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त, क्या भविष्यत में कोई सुख और कोई स्वर्ग नहीं है? यह एक ऐसा प्रश्न था जो कि बौद्धों को बहुधा चक्कर में डालता था और वे अपने स्वामी से इस के स्पष्ट उत्तर के लिये बहुधा अनुरोध करते थे। इस विषय में गौतम के उत्तर सन्दिग्ध हैं और उसने अपने अनुयायियों को निर्वाण के अतिरिक्त, जो कि बौद्धों के लिये स्वर्ग और मुक्ति है, किसी अन्य स्वर्ग की आशा देकर कभी उत्तेजित नहीं किया।

मलूक्यपुत्त ने गौतम से इस विषय पर अनुरोध किया और उसने यह बात निश्चय रूप से जाननी चाही कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है अथवा नहीं। गौतम ने पूछा "क्या मैंने यह कहा था कि हे मलूक्यपुत्त आओ और हमारे चेले हो और हम तुम को यह बतलावेंगे कि संसार नित्य है अथवा अनित्य है?" "मलूक्यपुत्त ने उत्तर दिया "महाशय यह आपने नहीं कहा था।" गौतम ने कहा "तब इस प्रश्न के उत्तर पर अनुरोध मत करो। यदि कोई मनुष्य जिसको कि जहरीली वाण लग गई हो अपने वैद्य से कहे मैं अपने घाव की औषधि नहीं होने दूंगा जब तक कि मुझे यह विदित न हो कि मुझे किस मनुष्य ने मारा है और वह क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य वा शूद्र है?' तो उसका कैसा अन्त होगा? वह घाव से मर जायगा और इसी प्रकार वह मनुष्य भी मरेगा जिसने के सर्वोत्तम और पवित्र जीवन के लिये इस कारण उद्योग नहीं किया क्योंकि वह अब नहीं जानता कि मृत्यु के उपरान्त क्या होगा। इस कारण हे मलूक्यपुत्त जो कुछ मैंने प्रगट नहीं किया उसे अप्रगट रहने दो और जो कुछ मैंने प्रगट किया है उसे प्रगट रहने दो।" (चूल-मलूक्य-ओवाद, मज्झिम निकाय)

इसी प्रकार यह कहा जाता है कि कोशल के राजा प्रसेनजीत अपने दो प्रधान नगरों के बीच अर्थात् साकेत से श्रावस्ती को यात्रा में खेमा भिक्षुणी से मिला जो कि अपनी बुद्धि के लिये प्रसिद्ध थी। राजा ने उसका सत्कार किया और पूछा "हे पूज्य महाशया क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त रहता है? उसने उत्तर दिया है महाराज बुद्ध ने यह प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु

के उपरान्त रहता है।" राजा ने पूछा "हे पूज्य महाशया तब क्या पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता?" परन्तु खेमा ने इसका भी उत्तर यही दिया कि "हे महाराजा बुद्ध ने यह भी प्रगट नहीं किया कि पूर्ण बौद्ध मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता।" (सम्युत्तनिकाय)

इन वाक्यों से विदित होगा कि गौतम के धर्म्म में निर्वाण के उपरान्त की बातों पर विचार नहीं किया गया है *। गौतम का उद्देश्य स्पष्ट है। वह सब मनुष्यों को आत्मोन्नति द्वारा अपने दुःखों का नाश करने के लिये, भविश्यत में दुःख की अवस्थाओं से बचने के लिये, और संसार में पवित्र सुख और पूर्ण पापरहित अवस्था जो कि निर्वाण कहलाती है, प्राप्त करने के लिये बुलाता था।

यदि कोई मनुष्य निर्वाण की इस अवस्था को जीवन में प्राप्त न करे तो उसका पुनर्जन्म होने योग्य है। गौतम आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता था परन्तु फिर भी आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुओं के मन में इतना अधिक धँस गया था कि वह निकाला नहीं जा सकता था और इस कारण गौतम पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ग्रहण करता हुआ भी आत्मा के सिद्धान्त को नहीं मानता था। परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो वह क्या वस्तु है जिसका पुनर्जन्म होता है? इसका उत्तर कर्म्म सम्बन्धी बौद्ध सिद्धान्त में दिया है।

यह सिद्धान्त यह है कि मनुष्यके कर्म्मका नाश नहीं हो सकता और उसका यथोचित फल अवश्य होता है। और जब कोई जीवित मनुष्य मर जाता है तो उस मृत मनुष्य के कर्मों के अनुसार एक नए मनुष्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह धार्मिक बुद्ध यद्यपि आत्मा को नहीं मानता है परन्तु वह इस बात को मानता है कि उसके जीवन की अवस्था उसके पूर्व जन्म के कर्मों से द्वारा निश्चित होती है। सब बौद्ध ग्रन्थकारों ने एक जन्म से दूसरे जन्म के सम्बन्ध का उदाहरण एक दीप की टेम से दिया है जिससे कि दूसरे दीप की टेम जला दी जाती है। और यदि कोई निर्दोषी मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है तो वह कहता है "यह मेरे ही

* डाक्टर ओल्डनबर्ग साहब ने इस प्रश्न पर पूरी तरह से वादविवाद किया है। उसे इसलिए इस विद्वान ने बौद्ध नियमों की सब पुस्तकों को ध्यानपूर्वक परीक्षा कर के अपनी सम्मती लिखी है।

कर्मों का फल है इसके लिये मुझे शिकायत क्यों करनी चाहिए ?" परन्तु यदि आत्मा ही नहीं है तो दुःख पानेवाले मनुष्य और मरे हुए मनुष्य में समानता कहां है ? बौद्ध लोग इसका यों उत्तर देते हैं "समानता केवल उसमें रहती है जोकि मनुष्य के मर जाने और अणु में गल जाने के उपरान्त भी शेष रहता है अर्थात् उसके कार्य्यों, विचारों और वाणी में, उसके कर्म्म में जोकि मर नहीं सकते।"

यह बहस हम लोगों को व्यावृत्तिक तर्क के समान जान पड़ती है परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में एक बात है जिसे कि आज कल के सामाजिक दर्शनशास्त्रज्ञ ठीक कहेंगे। बौद्धों की भांति आज कल के दर्शनशास्त्रज्ञों का भी यह विचार है कि प्रत्येक पीढ़ी अपनी पूर्व पीढ़ी के पुण्य और पापों के फलों को भोगती है और इस अर्थ में कोई जाति जैसा बोती है वैसा काटती है। "बौद्ध महात्मा अपने आत्मनिग्रह की पवित्रता को उस निश्चय सुख की लालसा के द्वारा नष्ट नहीं करता जो कि उसको मृत्यु के उपरान्त मिलेगा। उसका ज्ञान नहीं रह जायगा परन्तु उसके पुण्य रहेंगे और वे प्राणियों के दुःख को घटाने में अपने पूरे प्रभाव से कार्य्य करेंगे।"

परन्तु गौतम ने केवल पुनर्जन्म के सिद्धान्त को ही प्राचीन हिन्दू धर्म्म से लेकर अपने धर्म्म में एक सुधार किए हुए रूप में नहीं रक्खा है। उसने उस समय के समस्त हिन्दू देवताओं को भी उसी तरह स्वीकार किया है और अपने मुख्य विचार अर्थात् पवित्र जीवन की सर्वोच्च शक्ति के अनुकूल होने के लिये उन्हें इसी भाँति परिवर्तित किया है। उसने ऋग्वेद के तीनों देवताओं को माना है परन्तु उन्हें सर्वप्रधान नहीं माना। वह उपनिषदों के नये प्रधान देवता ब्रह्मा को मानता है परन्तु सर्वप्रधान की भाँति नहीं। क्योंकि वे भी बार बार जन्म लेते हुए उस पवित्र जीवन अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जोकि सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। किसी मनुष्य ने कभी शुद्धता और पवित्रता को देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठता देने का कभी यत्न नहीं किया अर्थात् जो भलाई मनुष्य कर सकता है उसे उसने देवताओं और सृष्टि की प्रधान शक्तियों से भी अधिक बढ़ा दिया है।

परन्तु यह कहना आवश्यक है कि इस बात में सन्देह है कि गौतम स्वयं हिन्दू देवताओं को मानता था अथवा नहीं। यह बात

असम्भव नहीं है कि जिन लोगों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था उनकी भाषा से देव, गन्धर्व और ब्राह्म अब तक जुदा न हुए हों।

जाति के सम्बन्ध में गौतम ब्राह्मण का उसी भांति सत्कार करता था जैसा कि बौद्ध श्रामन का। परन्तु वह ब्राह्मण का सत्कार उसके गुण और विद्या के लिये करता था, उसकी जाति के लिये नहीं, क्योंकि जाति को वह नहीं मानता था। दो ब्राह्मण युवा वशिष्ठ और भरद्वाज इस बात पर लड़ने लगे कि "कोई ब्राह्मण कैसे होता है" और गौतम के पास उसकी सम्मति के लिये आए तो गौतम ने एक व्याख्यान दिया जिसमें उसने जोर देकर जातिभेद को नहीं माना और कहा कि मनुष्यों का गुण उनके कार्य्य से है उनके जन्म से नहीं। उसने कहा घास, वृक्ष, कीड़े मकोड़े, चीटियां, चौपाए, साँप, मछलियां और चिड़ियां सब के भेद हैं और वे अपने गुणों द्वारा जाने जाते हैं। मनुष्य का भी गुण है और वह उसका कार्य्य है।

"क्योंकि हे वशिष्ठ जो मनुष्य गाय रख कर जीवन निर्वाह करता है वह किसान कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य भिन्न भिन्न शिल्प के कार्य्य करके जीवन निर्वाह करता है वह शिल्पकार कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य वाणिज्य के द्वारा जीवन निर्वाह करता है वह वणिक कहलाता है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य दूसरे की सेवा कर के जीवन निर्वाह करता है......वह सेवक है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य चोरी कर के जीवन निर्वाह करता है...... वह चोर है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य धनुर्विद्या से जीवन निर्वाह करता है...... वह सिपाही है ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य गृहस्थी के विधानों को कर के जीवन निर्वाह करता है......वह यज्ञ करनेवाला है, ब्राह्मण नहीं।

"और जो मनुष्य गांवों का स्वामी है...वह राजा है, ब्राह्मण नहीं।

"और मैं किसी को उसके जन्म अथवा किसी विशेष माता से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण नहीं कहता, वह भूपति कहा जासकता है और वह धनाढ्य हो सकता है परन्तु मैं ब्राह्मण उसे कहता हूं जिसके पास कुछ न हो और जो किसी वस्तु की लालसा न करे...

"जो मनुष्य क्रोध से रहित है, पवित्र कार्य्य और पुण्य करता है, कामना से रहित है, जिसने इन्द्रियों को दमन किया है और अपना अन्तिम शरीर धारण किया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

"जो मनुष्य जल में कमल की नाईं, या सूई के नोके पर सरसों की नाईं इन्द्रियों के सुख में नहीं लिपटता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" (वासेत्थसुत्त)

इसी भांति मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में लिखा है कि एक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान अस्सलायन गौतम के इस मत पर विवाद करने के लिये आया कि सब जातियां समान रीति से पवित्र हैं। गौतम ने जो कि तार्किकों के साथ उन्हींके शस्त्रों से लड़ सकता था, पूछा कि क्या ब्राह्मण की स्त्रियों को अन्य स्त्रियों की नाईं प्रसव की सब कमजोरियां नहीं होतीं। अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां होती हैं।" गौतम ने पूछा "क्या बैक्ट्रिया की नाईं आस पास के देशों के लोगों में रंग का भेद नहीं होता और फिर भी उन देशों में क्या गुलाम मालिक नहीं हो सकते और मालिक गुलाम नहीं हो सकते?" अस्सलायन ने उत्तर दिया "हां, हो सकते हैं।" गौतम ने पूछा "तब यदि ब्राह्मण घातक, चोर, लम्पट, झूठा, कलङ्क लगाने वाला, बोलने में कड़ुआ और तुच्छ, लालची, द्रोही और मिथ्या सिद्धान्त का हो तो क्या वह मृत्यु के उपरान्त दूसरी जाति की नाईं दुःख और कष्ट में जन्म नहीं लेगा?" अस्सलायन ने कहा "हां" और उसने यह भी स्वीकार किया कि बिना जाति का विचार किए हुए अच्छे कर्मों से स्वर्ग अवश्य मिलेगा। गौतम ने फिर भी यह बहस की कि यदि किसी घोड़ी का किसी गदहे के साथ संयोग हो जाय तो उसकी सन्तान खच्चर होगी। परन्तु क्षत्रिय और ब्राह्मण के संयोग से जो सन्तान होती है वह अपने मां, बाप की नाईं होती है और इस लिये यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार के तर्क से गौतम ने युवा तार्किक के हृदय में उस सत्य को जमा दिया और वह "वहां चुप चाप कूबड़ की नाईं दुखी, नीची दृष्टि किए हुए सोचता हुआ बैठा रहा और उत्तर न दे सका" और तब वह गौतम का चेला हो गया।

दूसरे समय में गौतम ने अपने साथियों को समझाया है "हे शिष्यो, जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियाँ, वे चाहे कितनी बड़ी क्यों न हों, यथा गंगा, यमुना, अचिरावति, सरयू और मही, जब समुद्र में पहुंचती

हैं तो वे अपना पुराना नाम और पुरानी उत्पत्ति को छोड़ कर केवल एक नाम अर्थात् समुद्र के नाम से कहलाती हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य भी जब वे भिक्षु हो जाते हैं तो उनमें भेद नहीं रह जाता। और हम जानते हैं कि इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में कार्य भी किया जाता था। क्योंकि जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि उपाली हज्जाम ने भिक्षु धर्म को स्वीकार किया और वह बौद्ध भिक्षुओं में एक बड़ा पूज्य और विद्वान हो गया। एक हृदयभेदक कथा थेर गाथा में भी लिखी है जिससे हम लोग यह समझ सकते हैं कि बौद्ध धर्म भारतवर्ष में नीच लोगों के लिये कैसा उत्तम था और वे उसे जाति भेद के अन्याय से रक्षा पाने के लिये कैसी उत्सुकता से स्वीकार करते थे। थेर सुनीत कहता है "मैं एक नीच वंश में उत्पन्न हुआ हूं 'मैं गरीब और कंगाल था। मैं नीच कर्म करता अर्थात् सूखे हुए फूलों को झाड़ने का कार्य्य करता था। मुझ से लोग घृणा करते थे और तुच्छता तथा असत्कार की दृष्टि से देखते थे। मैं बहुतों का फर्माबरदारी की दृष्टि से सत्कार करता था। तब मैं ने बुद्ध को भिक्षुओं के सहित उस समय देखा जब कि वह मगध के सब से प्रधान नगर में आ रहा था। तब मैंने अपना बोझा फेंक दिया और दौड़ कर उसके पास जा कर सत्कार के साथ दण्डवत की। मेरे पर दया कर के वह सर्वोच्च मनुष्य ठहरा। तब मैं ने अपने को उसके चरणों पर गिरा दिया और तब प्राणियों में उस सर्वोच्च मनुष्य की प्रार्थना की कि वह मुझे भिक्षु बनाले। तब उस कृपालु स्वामी ने मुझ से कहा कि हे भिक्षु इधर आओ, और इसी प्रकार मैं भिक्षु बनाया गया। और यह कथा बड़ी शिक्षा देकर समाप्त होती है जिसका उपदेश गौतम ने इतने अधिक बार दिया है "पवित्र उत्साह से, पवित्र जीवन और आत्म-निरोध से मनुष्य ब्राह्मण हो जाता है, यह सब से ऊंचा ब्राह्मण का पद है।

नम्रसुनीत की इस कथा को बिना समानता के प्रिय उत्साह को समझे हुए जो कि आदि बौद्ध धर्म का प्राण है और उसकी सफलता का कारण है, कौन पढ़ सकता है? यह बड़ा गुरु जो कि न तो धन न प्रभुत्व और न जाति को मानता था गरीबों और तुच्छ लोगों के पास उसी भांति जाता था जैसे कि अमीरों के पास और उन्हें पवित्र जीवन और पवित्र आचार के द्वारा अपनी मुक्ति पाने के लिये

उपदेश देता था। धार्म्मिक जीवन से नीच और ऊँच दोनों समान रीति से सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे, और भिक्षुओं के सम्प्रदाय में कोई भेद नहीं माना जाता था। हजारों मनुष्यों और स्त्रियों ने उस प्रिय और सज्ञान विचार को स्वीकार किया और अपने गुरु की प्रीति तथा उसके गुणों के अनुकरण करने में जातिभेद को छोड़ दिया। और गौतम ने जिस तिथि से बनारस में अपना समानता और प्रीति का धर्म्म प्रगट किया उसके तीन शताब्दियों के भीतर ही यह धर्म्म भारतवर्ष का प्रधान धर्म्म हो गया। जातिभेद भिक्षुओं के सम्प्रदाय में तो था ही नहीं और गृहस्थों में भी उसका प्रभाव जाता रहा क्योंकि उनमें से सब से नीच वंश का कोई भी, भिक्षुओं का सम्प्रदाय ग्रहण कर के, सर्वोच्च प्रतिष्ठा पा सकता था।

"(३९३)मनुष्य अपने गुथे हुए बालों से अपने वंश अथवा जन्म से ब्राह्मण नहीं हो जाता, परन्तु जिसमें सत्यता और पुण्य है वही धन्य है और वही ब्राह्मण है।

"(३९४)हे मूढ़, गुथे हुए बालों की क्या आवश्यकता है? मृगछाला धारण करने की क्या आवश्यकता है? तेरे भीतर तो लालच भरा हुआ है परन्तु ऊपर से तू स्वच्छ बनता है।

"(४२२) मैं उसे ब्राह्मण अवश्य कहता हूं जो कि वीर, महात्मा, विजयी, अगम्य, पूर्ण और जाग्रित है।

"(१४१) न तो नंगा रहने से, न गुथे हुए बालों से, न धूल से, न व्रत रहने अथवा जमीन पर पड़े रहने से, न विभूति लगाने से और न चुप चाप बैठे रहने से, वह मनुष्य अपने को पवित्र कर सकता है जिसने कि अपनी कामनाओं को नहीं जीता।"*(धम्मपद)।

यह समझना भूल है कि गौतम सब को संसार त्याग कर के भिक्षु सम्प्रदाय ग्रहण करने के लिये स्पष्ट आज्ञा देता था। इस बड़े उपदेशक का मुख्य उद्देश्य जीवन तथा उसकी सुख की कामनाओं को जीतना था और यह दिखलाने के लिये संसार त्याग देने में कोई विशेष भलाई नहीं जान पड़ता था। परन्तु

* प्रोफेसर मक्समूलर साहेब ने ऊपर के वाक्यों पर निम्नलिखित मनोरञ्जक टिप्पणी दी है—

"नंगे फिरना तथा और दूसरे कार्य्य जिनका कि धम्मपद में उल्लेख है महात्माओं के जीवन के बाहरी चिन्ह हैं और इन्हें बुद्ध स्वीकार नहीं करता क्योंकि वे कामनाओं को शान्त नहीं करते।

फिर भी उन कामनाओं को जीतना तब तक कठिन होता है जब तक कोई मनुष्य वास्तव में अपने कुटुम्ब के साथ रहे और जीवन के सुखों को भोगता रहे। अतएव गौतम भिक्षु के जीवन की अपने बड़े उद्देश्य के लिये अधिक गुणकारी मार्ग होने से प्रशंसा करता था। और इस कारण बहुत से लोगों ने संसार को त्याग कर भिक्षु सम्प्रदाय को ग्रहण किया और इस प्रकार बौद्ध सन्यासियों का सम्प्रदाय बना जो कि सम्भवतः संसार में सन्यासियों के सम्प्रदाय में सब से पहिला है।

यहां पर बौद्ध भिक्षुओं के सम्प्रदाय के नियमों का लिखना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे इस धर्म्म के मुख्य सिद्धान्तों में नहीं हैं। हम यहां केवल एक सुन्दर सूत्र उद्धृत करेंगे जिसमें गौतम और एक किसान की कल्पित बात चीत दी है जिससे सांसारिक जीवन और धर्म्मजीवन के गुण विदित होते हैं—

"(१) धनिय किसान ने कहा-"मैं अपना चावल पका चुका हूं, मैं अपनी गायों को दुह चुका हूं, मैं अपने लोगों के संग मही नदी के तट के निकट रहता हूं। मेरा घर छाया हुआ है। आग सुलगी हुई है अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर!"

(२) भगवत् ने कहा "मैं क्रोध से रहित हूं, हठ से रहित हूं, मैं एक रात्रि के लिये मही नदी के तट के निकट टिका हुआ हूं, मेरा

यदि हम सुमागधा अवदान को देखें तो यह विदित होता है कि नंगे रहने को उसने अन्य कारणों से स्वीकार नहीं किया। अनाथपिण्डिक की कन्या के घर में कुछ नंगे साधू एकत्रित हुए। उसने अपनी पतोहू सुमागधा को बुला कर कहा 'जाओ और उन पूज्य महात्माओं का दर्शन करो।' सुमागधा, सारिपुत्र, मौद्गलायन आदि लोगों की नाईं महात्माओं का दर्शन पाने की आशा में प्रसन्नता से दौड़ी परन्तु जब उसने इन सन्यासियों को कबूतर के डैनों की नाईं बाल रक्खे हुए केवल विभूति लगाए हुए [illegible] और दैत्यों के सदृश देखा तो वह बड़ी उदास हुई। उसकी सासने पूछा 'तुम उदास क्यों हो?' सुमागधा ने उत्तर दिया 'हे माता यदि महात्मा लोग ऐसे हैं तो पापी लोगों का रूप कैसा होता होगा!'"

घर छाया नहीं है (कामना की) आग बुझ गई है, अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।"

(३) धनिय किसान ने कहा–"मेरे यहां डांस नहीं हैं, घास से भरे हुए खेतों में गायें घूम रही हैं और यदि वर्षा हो तो वे उसे सह सकती हैं। अतएव हे आकाश, यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(४) भगवत् ने कहा "मेरे पास एक अच्छी बनी हुई नौका है, मैं (निर्वाण तक) चला आया हूं। मैं कामनाओं की लहरों को जीत कर आगे के किनारे पर पहुंच गया हूं। अब मुझे नौका का कोई काम नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(५) धनिय किसान ने कहा, "मेरी स्त्री आज्ञाकारिणी है आवारा नहीं है, और वह बहुत समय तक मेरे साथ रही है, वह मोहने-वाली है और मैं उसके विषय में कोई बुरी बात नहीं सुनता। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(६) भगवत् ने कहा ' मेरा मन आज्ञाकारी और स्वतंत्र है और मैंने उसे बहुत समय तक उच्च शिक्षा दी है और भली भांति दमन किया है। अब मेरे में कोई बुरी बात नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(७) धनिय किसान ने कहा "मैं स्वयं कमा कर अपना पालन करता हूं और मेरे बच्चे मेरे पास सब निरोगी हैं मैं उनकी कोई बुराई नहीं सुनता। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(८) भगवत् ने कहा "मैं किसी का नौकर नहीं हूं। जो कुछ मैंने प्राप्त किया है उससे मैं सारे संसार में भ्रमण करता हूं। मुझे नौकरी करने का आवश्यकता नहीं है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(९) धनिय ने कहा "मेरे पास गाय हैं, बछड़े हैं, गाभिन गाय और बछिया हैं। और इन गायों के ऊपर स्वामी की नाईं मेरे एक साँड़ भी है। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(१०) भगवत् ने कहा "मेरे गाय नहीं हैं, मेरे बछड़ा नहीं है, मेरे गाभिन गाय और बछिया नहीं हैं। और गायों के स्वामी की भांति मेरे साँड़ भी नहीं हैं अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वृष्टि कर।

(११) धनिय किसान ने कहा "खूंटे गड़े हुए हैं और हिल नहीं सकते, पगहे मूंज के नए और अच्छे बने हुए हैं, गायें उन्हें नहीं तोड़

सकेंगी। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।

(१२) भगवत् ने कहा "साँड़ की नाईं बंधनों को तोड़ कर, हाथी की नाईं गलुच्छि लता को तोड़ कर फिर मैं गर्भ में नहीं जाऊँगा। अतएव हे आकाश यदि तेरा जी चाहे तो वर्षा कर।"

तब तुरन्त वृष्टि हुई जिसने कि समुद्र और पृथ्वी को भर दिया। और आकाश से वृष्टि होते सुन कर धनिय इस प्रकार बोला।

(१३) "यह हमारे लिये थोड़े लाभ की बात नहीं है कि हम लोगों ने भगवत् का दर्शन पाया। हे बुद्धि की चक्षुवाले, हम लोग तेरी शरण लेते हैं! हे बड़े मुनी; तू हम लोगों का स्वामी हो!" (धनियसुत्त)

ये गौतम के धर्म्म के प्रधान सिद्धान्त हैं और संक्षेप में उनका पुनः उल्लेख कदाचित् हमारे पाठकों को लाभदायक होगा। हम कह चुके हैं कि बौद्ध धर्म्म वास्तव में आत्मोन्नति की एक प्रणाली अर्थात् इस संसार में पवित्र जीवन व्यतीत करने का एक यत्न है और इससे अधिक उसमें कुछ नहीं है। हम देख चुके हैं कि गौतम इन चारों सत्यों का उपदेश करता था कि जीवन दुःख है, जीवन की लालसा दुःख का कारण है, इस लालसा को जीतना दुःख का नाश करना है और आत्मोन्नति का मार्ग जीवन की इस लालसा को जीतने का उपाय है। गौतम ने पवित्र जीवन और निष्पाप शान्ति को अपने धर्म्म का सिद्धान्त और मनुष्य का सर्वोच्च उद्देश्य मान कर आत्मोन्नति की एक प्रणाली और मन वाणी और कर्म द्वारा आत्मनिरोध की रीति को ध्यान पूर्वक स्थापित किया है जिसे कि वह उत्तम मार्ग कहता है और जो धर्म्म के सात रत्नों के नाम से प्रसिद्ध है।

और यह पवित्र शान्ति, यह निष्पाप शान्त जीवन जो कि इतने आत्मनिरोध और इतनी आत्मोन्नति का उद्देश्य है इसी संसार में प्राप्त हो सकता है। वही बौद्धों का स्वर्ग है, वही निर्वाण है। गौतम का धर्म्म परलोक के लिये कोई उज्वल पुरस्कार नहीं देता, भलाई स्वयं उसका पुरस्कार है, पुण्यमय जीवन बौद्धों का अन्तिम उद्देश्य है, इस पृथ्वी पर पुण्यमय शान्ति बौद्धों का निर्वाण है।

फिर भी हम देख चुके हैं कि गौतम ने अपने धर्म्म में हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त को एक परिवर्तित रूप में ग्रहण किया था। यदि इस जीवन में निर्वाण की प्राप्ति न हो तो जीवन के कर्मों का

उचित फल दूसरे जन्मों में मिलेगा जब तक कि शिक्षा पूर्ण न हो जाय और निर्वाण प्राप्त न हो जाय।

इसी भांति गौतम ने हिन्दू देवताओं को अर्थात् ऋग्वेद के तैंतीसों देवताओं और ब्रह्मा और गंधर्व के विश्वास को ग्रहण किया अथवा ग्रहण करने दिया। 'ये सब देवता और सृष्टि के समस्त प्राणी भिन्न भिन्न मंडलों में बार बार जन्म लेकर उस निर्वाण को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं जो कि सब लोगों के लिये मुख्य उद्देश्य, अन्त और मुक्ति है।

परन्तु हिन्दू धर्म्म में ऐसे सिद्धान्त और रीतियां भी थीं जिन्हें कि वह ग्रहण नहीं कर सकता था। उसने जाति भेद को निकाल दिया, तपस्याओं से वह कोई लाभ नहीं समझता था और वैदिक विधानों को उसने निरर्थक प्रगट किया है। ऐसे विधानों के स्थान में उसने दयालु जीवन व्यतीत करने और मनः क्षोभ और कामनाओं को जीतने की आज्ञा दी है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने की अधिक सुगम रीति के लिये उसने संसार का त्याग बतलाया है। उसका यह उपदेश माना गया और उससे बौद्ध भिक्षुओं का सम्प्रदाय स्थापित हुआ।

तब बौद्ध धर्म की सब से प्रधान बात यह है कि वह इस लोक में पवित्र और पुण्यात्मा जीवन की शिक्षा देता है और पुरस्कार वा दण्ड का कोई विचार नहीं करता। वह मनुष्य के स्वभाव की सब से अधिक निष्काम भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह अपने सामने स्वयं पुण्य को अपने पुरस्कार की भाँति रखता है और उसको प्राप्त करने के लिये निरन्तर उद्योग की आज्ञा देता है। वह शान्त निष्पाप जीवन की प्राप्ति के अतिरिक्त मनुष्य वा देवताओं में किसी उच्च उद्देश्य को नहीं जानता, वह पुण्यमय शान्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार की मुक्ति को नहीं बतलाता, वह पवित्रता के अतिरिक्त किसी दूसरे स्वर्ग को नहीं जानता।" उसने अपनी दृष्टि से आत्मा के उस सिद्धान्त को बिलकुल निकाल दिया जो कि अब तक मिथ्याचारी और विचारवान दोनों ही के मत में समान रीति से भरा हुआ था।

उसने संसार के इतिहास में पहिले पहिल यह प्रगट किया कि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिये इस संसार और इसी जीवन

में बिना ईश्वर वा छोटे बड़े देवताओं की कुछ भी सहायता के, मुक्ति प्राप्त कर सकता है। "

इसके विरुद्ध बौद्ध धर्म्म की इसी बात पर बहुधा कलंक लगाया गया है। यह कहा गया है कि वह अज्ञेयवादी धर्म्म है जोकि ईश्वर, आत्मा और मुक्ति पाने वालों के लिये किसी परलोक को नहीं मानता। परन्तु डाक्टर रहेस डेविड्स साहेब इस बात को दिखलाते हैं कि जहां ब्रह्मविद्या अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में सन्तोषदायक उत्तर नहीं देती और जहां मनुष्यों ने पुराने प्रश्नों के नए उत्तर ढूंढ़े हैं वहां अज्ञेयवाद एक वा दो बार नहीं परन्तु बारम्बार प्रधान दिखलाई देता है। " भारतवर्ष के अज्ञेयवादियों, यूनान और रोम के औदासिन्यों, फ्रान्स, जर्मनी और हम लोगों के कुछ नए दर्शन शास्त्रों में जो बहुत सी समान बातें मिलती हैं उनका कारण समझने के लिये विचारों की उन्नति में बौद्ध के सिद्धान्तों से हमें सहायता मिलती है "

अध्याय १४।

गौतम बुद्ध की धार्मिक आज्ञाएँ

ऐसे धर्म्म में जिसका कि मुख्य उद्देश्य इस संसार में पवित्र जीवन की शिक्षा देने का है अवश्य ही बहुत सी धार्मिक आज्ञाएँ होंगी और आज्ञाएँ बौद्ध धर्म्म की विशेष शोभा हैं तथा इन से यह धर्म्म समस्त सभ्य संसार में सत्कार की दृष्टि से देखा जाता है। इस अध्याय में हम इनमें से कुछ उत्तम आज्ञाओं पर विचार करेंगे जिससे हमारे पाठकों को गौतम की धार्मिक शिक्षाओं का कुछ सारांश विदित होगा।

गृहस्थ चेलों के लिये गौतम ने पांच प्रकार की आज्ञाएँ दी हैं जो कि निस्सन्देह हिन्दुओं के शास्त्र के पञ्च महापातकों से ली गई हैं जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है।

(१८) "गृहस्थों का भी कार्य्य मैं तुम से कहूंगा कि श्रावक किस प्रकार अच्छा होने के लिये कार्य्य करे क्योंकि भिक्षुओं का पूरा धर्म्म इन लोगों से पालन नहीं किया जा सकता जो कि सांसारिक कार्य्यों में लगे हुए हैं।

(१९) "उसे किसी जीव को नहीं मारना वा मरवाना चाहिए और यदि दूसरे लोग उसे मारें तो उसे नहीं सराहना चाहिए और सब

जन्तुओं को, चाहे वे बलवान जन्तु हों वा वे ऐसे हों जो कि संसार में बड़े बलहीन हैं उन सब के मारने का उसे विरोध करना चाहिए।

(२०) "और श्रावकों को किसी स्थान पर कोई वस्तु न लेनी चाहिए जिसको कि वह जानता है कि दूसरे की है और जो उसको न दी गई हो। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी न लेने देनी चाहिए और जो लोग लें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिए।

(२१) 'बुद्धिमान मनुष्यों को व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले की नाईं करना चाहिये। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न कर सके तो उसे दूसरे की स्त्री के साथ व्यभिचार नहीं करना चाहिए।

(२२) "किसी मनुष्य को न्याय सभा वा किसी सभा में दूसरे से झूठ न बोलना चाहिए। उसे दूसरों से झूठ न बोलवाना चाहिए और जो लोग झूठ बोलें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब असत्य का त्याग करना चाहिए।

(२३) "जो गृहस्थ इस धर्म्म को मानता हो उसे नशे की वस्तुएँ नहीं पीनी चाहिएँ। उसे दूसरों को भी नहीं पिलाना चाहिए और जो लोग पीएँ उनको यह जानकर नहीं सराहना चाहिये कि उसका फल पागलपन है।" (धाम्मिकसुत्त, सुत्तनिपात)।

ये पांचो आज्ञाएँ जो कि पंच सील के नाम से प्रसिद्ध हैं सब बौद्धों अर्थात् गृहस्थों और भिक्षुओं के लिये हैं। वे संक्षेप में इस भांति कही गई हैं—

(२४) "कोई किसी जीव को न मारे। जो वस्तु न दी गई हो उसे नहीं लेना चाहिए। झूठ न बोलना चाहिए। नशे की वस्तुएँ नहीं पीना चाहिए। व्यभिचार नहीं करना चाहिए।"

तीन नियम और दिये गए हैं जो कि अत्यावश्यक नहीं समझे जाते परन्तु वे कट्टर और धार्मिक गृहस्थ चेलों के लिये कहे गए हैं। वे ये हैं—

(२५), (२६) "रात्रि को असमय भोजन नहीं करना चाहिए। माला नहीं पहिरनी चाहिए और सुगन्ध नहीं लगाना चाहिए। भूमि पर बिछौना बिछा कर सोना चाहिए।"

कट्टर और धार्मिक गृहस्थ के लिये इन आठों आज्ञाओं के जो कि अट्ठंगसील के नाम से प्रसिद्ध है, पालन करने की प्रतिज्ञा करने के लिये कहा गया है।

इन आठों नियमों के अतिरिक्त दो नियम और भी हैं और वे ये हैं। अर्थात् नाच, गाने बजाने आदि से निषेध और सोने और चाँदी को काम में लाने से निषेध। ये दसो आज्ञाएँ (दस सील) भिक्षुओं के लिये आवश्यक हैं जैसे कि पंचसील गृहस्थों के लिये हैं।

अपने माता पिता का सत्कार करना और इज्जतदार व्यापार करना यद्यपि ये दो बातें आज्ञाओं में सम्मिलित नहीं हैं तथापि उसी सुत्त में सब गृहस्थों को उनका पालन करने के लिये कहा गया है।

"उसे भक्ति के साथ अपने माता पिता का पालन करना चाहिए और कोई इज्जत का व्यापार करना चाहिए। जो गृहस्थ इस का वीरता से पालन करता है वह सयंपभस। (संस्कृत स्वयंभु देवता) के पास जाता है।"

गृहस्थों के धर्म्म का एक अधिक विस्तृत वर्णन प्रसिद्ध सिगालोवादसुत्त में दिया है जिसे कि उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों बौद्ध मानते हैं और जिसका अनुवाद यूरप की भाषाओं में कई बार हुआ है। इन धर्म्मों के वर्णन से हिन्दू समाज की व्यवस्था तथा हिन्दू सामाजिक जीवन के आदर्श का इतना स्पष्ट यथार्थ ज्ञान होता है कि हमें उसके उद्धृत करने में कोई रोकावट नहीं होती—

१ माता पिता और लड़के

माता पिता को चाहिए कि—

(१) लड़कों को पाप से बचावें। (२) पुण्य करने की उनको शिक्षा दें। (३) उन्हें शिल्प और शास्त्रों में शिक्षा दिलावें। (४) उनके लिये योग्य पति या पत्नी दें। (५) उन्हें पैत्रिकाधिकार दें।

लड़कों को कहना चाहिए कि—

(१) जिन्हों ने मेरा पालन किया है उनका मैं पालन करूंगा।

(२) मैं गृहस्थी के उन धर्म्मों को करूंगा जो कि मेरे लिये आवश्यक हैं।

(३) मैं उनकी सम्पत्ति की रक्षा करूंगा। (४) मैं अपने को उनका वारिस होने के योग्य बनाऊंगा। (५) उनकी मृत्यु के उपरान्त मैं सत्कार से उनका ध्यान करूंगा।

२ शिष्य और गुरु।

शिष्य को अपने गुरुओं का सत्कार करना चाहिए—

(१) उनके सामने उठ कर। (२) उनकी सेवा करके।

(३) उनकी आज्ञाओं का पालन कर के । (४) उन्हें आवश्यक वस्तुएँ दे कर । (५) उनकी शिक्षा पर ध्यान दे कर ।

गुरु को अपने शिष्यों पर इस प्रकार स्नेह दिखलाना चाहिए—

(१) सब अच्छी बातों की उन्हें शिक्षा दे कर । (२) उन्हें विद्या को ग्रहण करने की शिक्षा दे कर । (३) उन्हें शास्त्र और विद्या सिखला कर । (४) उनके मित्रों और संगियों में उनकी प्रसंशा कर के । (५) आपत्ति से उनकी रक्षा कर के ।

३ पति और पत्नी ।

पति को अपनी पत्नी का इस भाँति पालन करना चाहिए—

(१) सत्कार से उसके साथ व्यवहार करके । (२) उस पर कृपा कर के । (३) उसके साथ सच्चा रह कर । (४) लोगों में उसका सत्कार करा कर । (५) उसे योग्य आभूषण और कपड़े दे कर ।

पत्नी को अपने पति पर इस भांति स्नेह दिखलाना चाहिए—

(१) अपने घर के लोगों से ठीक तरह से बर्ताव कर के । (२) मित्रों और सम्बन्धियों का उचित आदर सत्कार कर के । (३) पतिव्रता रह कर । (४) किफायत के साथ घर का प्रबन्ध कर के । (५) जो कार्य्य उसे करने पड़ते हों उनमें चतुराई और परिश्रम दिखला कर ।

४ मित्र और संगी ।

कुलीन मनुष्य को अपने मित्रों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए ।

(१) उपहार दे कर । (२) मृदु सम्भाषण से । (३) उनके लाभ की उन्नति कर के । (४) उनके साथ अपनी बराबरी का व्यवहार कर के । (५) अपना धन उनके साथ भोग कर ।

उन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिए ।

(१) जब वह बेखबर हो तो उसकी निगरानी कर के । (२) यदि वह असावधान हो तो उसकी सम्पत्ति की रक्षा कर के । (३) आपत्ति के समय उसे शरण देकर । (४) दुःख में उसका साथ दे कर । (५) उसके कुटुम्ब पर सदैव कृपा दिखला कर ।

५ स्वामी और नौकर ।

स्वामी को अपने सेवकों को इस प्रकार सुख देना चाहिए—

(१) उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें काम देकर । (२) उचित भोजन और वेतन देकर । (३) रोगी की अवस्था में उनके लिये

यत्न कर के। (४) असाधारण उत्तम वस्तुओं को उन्हें भी दे कर। (५) उन्हें कभी कभी छुट्टी दे कर।

नौकरों को अपने स्वामी पर भक्ति इस प्रकार प्रगट करनी चाहिए। (१) वे उसके पहले उठें। (२) वे उसके पीछे सोवें। (३) उन्हें जो कुछ दिया जाय उससे सन्तुष्ट रहें। (४) वे पूरी तरह से और प्रसन्न हो कर कार्य्य करें। (५) वे उसकी प्रसंशा करें

६ गृहस्थ और धार्मिक लोग।

इज़्ज़तदार मनुष्य भिक्षुओं और ब्राह्मणों की इस प्रकार सेवा करता है।

(१) कार्य्य में प्रीति दिखला कर। (२) वाणी में प्रीति दिखला कर। (३) विचार में प्रीति दिखला कर। (४) उनका मन से स्वागत कर के। (५) उनकी सांसारिक आवश्यकताओं को दूर कर के। उन लोगों को उसके साथ इस प्रकार प्रीति दिखलानी चाहिए।

(१) उसे पाप करने से रोक कर। (२) उसे पुण्य करने की शिक्षा देकर। (३) उसके ऊपर दया भाव रख कर। (४) धर्म की उसको शिक्षा दे कर। (५) उसके सन्देहों को दूर कर के स्वर्ग का मार्ग बतला कर।

उपरोक्त बातों से हमें पवित्र हिन्दू जीवन का, आनन्दमय गृहस्थी सम्बन्धी तथा सामाजिक विचारों और कर्तव्यों का कैसा चित्र मिलता है! अपने बच्चों को शिक्षा, धार्मिक शिक्षा और सांसारिक सुख देने के लिये माता पिता की उत्सुक भावना; अपने माता पिता को पालन करने, उनका सत्कार करने और मृत्यु के उपरान्त सत्कार से उनका स्मरण करने के लिये पुत्र की भक्ति पूर्ण अभिलाषा; शिष्य का अपने गुरु की ओर सत्कार के साथ व्यवहार और गुरु की शिष्य के लिये उत्सुक चिंता और प्रीति; पति का अपनी पत्नी के साथ सत्कार, दया, मान और प्रीति के साथ व्यवहार जो कि हिन्दू धर्म में सदा से चला आया है और हिन्दू पत्नियों की अपनी गृहस्थी के कार्यों में सचाई और चौकसी जिसके लिये कि वे सदा से प्रसिद्ध हैं; मित्रों के बीच, स्वामी और नौकरों के बीच, गृहस्थों और धर्म शिक्षकों के बीच दया का भाव—ये सब सर्वोत्तम शिक्षाएँ हैं जिन्हें हिन्दू धर्म ने दिया है और ये सर्वोत्तम कथाएँ हैं जिन्हें हिन्दू साहित्य ने हजारों वर्ष तक निरन्तर बनाया है। बौद्ध धर्म ने इन उत्तम बातों को

प्राचीन हिन्दू धर्म्म से ग्रहण किया और उन्हें अपने धर्म्म ग्रन्थों में रक्षित रक्खा।

अब हम गौतम की कर्तव्य विषयक आज्ञाओं को छोड़कर उन आज्ञाओं और परोपकारी कहावतों का वर्णन करेंगे जिनके कारण बौद्ध धर्म्म ने आजकल संसार में उचित प्रसिद्धता पाई है। गौतम का धर्म्म परोपकार और प्रीति का धर्म्म है और ईसा मसीह के जन्म के पांच शताब्दी पहिले इस हिन्दू आचार्य्य ने यह प्रगट किया था—

(५) "घृणा कभी घृणा करने से नहीं बन्द होती, घृणा प्रीति से बन्द होती है, यही इसका स्वभाव है।"

(१९७) "हम लोगों को प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिए और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिए जो कि हमसे घृणा करते हों। जो लोग हम से घृणा करते हों उनके बीच हमें घृणा से रहित हो कर रहना चाहिए।"

(२२३) "क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिए, बुराई को भलाई से विजय करना चाहिए। लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।" (धम्मपद)।

ये बड़ी शिक्षाएं सुशील और पवित्र आत्मा, गौतम के अनुयायियों के हृदय पर जमाने के लिये कही गई हैं और हम यहां उनमें से एक कथा को बड़े संक्षेप में लिखेंगे। अपने अनुयायियों में झगड़ों और भेद को रोकने के लिये गौतम कहता है—

"हे भिक्षुओ प्राचीन समय में बनारस में काशियों का एक राजा ब्रह्मदत्त रहता था जो कि बड़ा धनाढ्य था, उसके कोश में बहुत सा धन था, उसकी मालगुजारी बहुत अधिक थी और उसके पास बहुत बड़ी सेना और अनेक रथ थे, वह बहुत बड़े देश का स्वामी था और उसके कोश और भण्डार पूर्ण थे। और उस समय कोशल का राजा दीघीति भी था जो कि धनाढ्य नहीं था, उसका कोश और मालगुजारी थोड़ी थी, उसके पास थोड़ी सेना और रथ थे। वह एक छोटे से देश का राजा था और उसके कोश और भण्डार खाली थे।"

जैसा कि बहुधा हुआ करता है, धनाढ्य राजा ने इस निर्बल राजा का देश और उसका धन छीन लिया और दीघीति अपनी रानी के साथ बनारस भाग गया और वहां सन्यासी के वेष में एक कुम्हार के घर में रहने लगा। वहां उसकी रानी को एक पुत्र हुआ

जिसका नाम दीघावु रक्खा गया और कुछ काल में वह लड़का बड़ा हुआ।

इस बीच में राजा ब्रह्मदत्त ने सुना कि उसका प्राचीन शत्रु उसके नगर में अपनी स्त्री के साथ वेष बदल कर रहता है और उसने आज्ञा दी कि वह उसके सामने लाया जाय और निर्दयता से मारडाला जाय।

उनका पुत्र दीघावु उस समय बनारस के बाहर रहता था परन्तु अपने पिता के मारे जाने के समय वह अचाँचक नगर में आ गया था। मरते हुए राजा ने अपने पुत्र की ओर देखा और अमानुषिक क्षमा के साथ अपने पुत्र को अन्तिम उपदेश दिया "मेरे प्यारे दीघावु, घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती। मेरे प्यारे दीघावु घृणा प्रीति से शान्त होती है।"

हे भिक्षुओ! तब युवा दीघावु बन में चला गया और वहां वह जी भर कर रोया। तब वह अपने विचार दृढ़ कर के नगर को लौटा और राजा के तबेले में एक हाथी के सिखलानेवाले के नीचे उसने नौकरी की।

वह तड़के उठा और सुन्दर स्वर से गाने और बीन बजाने लगा और उसका स्वर इतना मधुर था कि राजा ने इस बात की खोज की कि हाथी के तबेलों में इतनी जल्दी कौन उठकर ऐसे सुन्दर स्वर से गा रहा है। तब इस युवा को लोग राजा के पास ले गए। इसने उसे प्रसन्न किया और वह उसके पास नौकर रक्खा गया।

और एक समय ऐसा हुआ कि राजा दीघावु को अपने साथ लेकर अहेर को गया। दीघावु की भीतरी अग्नि जल रही थी और उसने राजा के रथ को इस प्रकार हांका कि सेना एक ओर रह गई और राजा का रथ दूसरी ओर गया। और अन्त को राजा को बड़ी थकावट जान पड़ी और वह युवा दीघावु की गोद में अपना सिर रख कर लेट गया और थकावट के कारण तुरन्त सो गया।

"हे भिक्षुओ उस समय युवा दीघावु विचारने लगा 'कि काशी के इस ब्रह्मदत्त राजा ने हमारी बड़ी हानि की है। उसने हमारी सेना और रथ, हमारा राज्य, कोश, और भण्डार सब छीन लिया है। और उसने मेरे माता पिता को मार डाला है। पर अब

मेरे क्लेश का पलटा लेने का समय आगया है' और यह विचार कर उसने अपनी तलवार खींची।"

परन्तु अपने पिता का स्मरण करते हुए इस पलटा लेनेवाले राजकुमार को अपने मृत पिता के अन्तिम वाक्य स्मरण आ गए कि "मेरे प्यारे दीर्घायु घृणा, घृणा करने से शान्त नहीं होती, मेरे प्यारे दीर्घायु घृणा, प्रीति से शान्त होती है।" अतएव राजकुमार ने सोचा कि पिता के वाक्यों का उल्लंघन करना मेरे योग्य नहीं है और उसने अपनी तलवार रखदी।

राजा ने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा था और वह बड़ा भयभीत होकर जाग उठा। दीर्घायु ने उससे सब बात सत्य सत्य कह दी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा "मेरे प्यारे दीर्घायु, मुझे जीवन दान दो! मेरे प्यारे दीर्घायु मुझे जीवन दान दो!" उस सुशील युवा ने अपने पिता की आज्ञा का पालन कर के अपने पिता के बध को क्षमा कर दिया और ब्रह्मदत्त को जीवन दान दिया। और ब्रह्मदत्त ने उसके पिता की सेना और रथ उसका राज्य उसका कोश और भण्डार सब उसे लौटा दिया और अपनी पुत्री से उसका विवाह कर दिया।

हे भिक्षुओ, अब यदि उन राजाओं में इतना धैर्य और दया है जोकि राजछत्र और तलवार धारण करते हैं, तो हे भिक्षुओ कितनी अधिक धीरता और दया तुम में होनी चाहिए कि तुमने इतने उत्तम सिद्धान्तों और शिक्षा के अनुसार पवित्र जीवन ग्रहण किया है और धीर और दयालु देखे जाते हो, जिससे कि तुम्हारा यश संसार में प्रसिद्ध रहे।" (महावग्ग १०, २) परन्तु केवल धैर्य और दया ही नहीं वरन् पुण्य और भलाई के कार्यों की शिक्षा गौतम ने अपने अनुयायियों को बारंबार ज़ोर के साथ दी है।

(५१) "जैसे मनुष्य के उत्तम और फलहीन शब्द जोकि उनके अनुसार कार्य नहीं करता। वह सुन्दर फूल की नाईं है जोकि रंग में बड़ा उत्तम परन्तु सुगन्ध रहित है।"

(१८३) "पाप न करना, भलाई करना, अपने हृदय को शुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है।

(२००) "इसी प्रकार भलाई करनेवाला जब कि संसार को

छोड़ कर दूसरे संसार में जाता है तो वहां उसके भले कर्म्म उसके सम्बन्धी और मित्रों की नाईं उसका स्वागत करते हैं।"

(२०७) "वह मनुष्य बड़ा नहीं है जिसके सिर के बाल पक गए हों जिसकी अवस्था बड़ी हो गई हो परन्तु वह वृथा ही वृद्ध कहलाता है।

(२६१) "वह जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है, वह जोकि अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान है वही बड़ा कहलाता है।" (धम्मपद)।

और गौतम ने मातंग चाण्डाल की कथा कही है जिसने कि अपने अच्छे कर्म्मों के द्वारा सब से अधिक प्रसिद्ध पाई, जो देवताओं के विमान पर चढ़ा और ब्रह्मा के लोक में चला गया। अतएव "कोई मनुष्य जन्म से जाति बाहर नहीं हो सकता और न जन्म से ब्राह्मण हो सकता है। केवल कर्म्मों से मनुष्य जाति बाहर होता है और कर्म्म ही से वह ब्राह्मण होता है।" (वसलसुत्त, सुत्तनिपात, २७)

और फिर सुत्तनिपात के आमगन्धसुत्त में गौतम काश्यप ब्राह्मण से कहता है कि जीव को नष्ट करना, हिंसा करना, काटना, बांधना, चोरी करना, झूठ बोलना, और छल करना, व्यभिचार करना, निन्दा करना, कपट, निर्दयता, नशा खाना, धोखा देना, घमण्ड, बुरा मन, और बुरा कार्य्य—ये सब मनुष्य को अपवित्र करते हैं। मछली व मांस न खाने से, नंगा रहने से, माथा मुड़ाने से, गुथे हुए बाल रखने से, भभूत लगाने से, रूखा वस्त्र धारण करने से, हवन करने से, तपस्या करने से, भजन करने से, और बलिदान अथवा यज्ञ करने से, वह पवित्र नहीं हो सकता।

समस्त धम्मपद में ४२३ सद्व्यवहार की आज्ञाएं हैं जो कि उत्तमता और सद्व्यवहार की दृष्टि से इस भांति की अन्य आज्ञाओं के संग्रहों से बढ़ कर है जोकि किसी समय या किसी देश में किए गए हैं। और बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों में जो कथाएँ और कहावतें, उपमाएँ और आज्ञाएँ हैं उनका संग्रह करने से एक बड़ी अच्छी पुस्तक बन जायगी। हम केवल कुछ उद्धृत वाक्यों को देकर इस अध्याय को समाप्त करेंगे—

(१२९) "सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं, सब मनुष्य मृत्युसे भय

भीत होते हैं। स्मरण रक्खो कि तुम उनके समान हो। अतएव हिंसा मत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

(१३०) सब मनुष्य दंड से डरते हैं, सब मनुष्यों को जीवन प्रिय है। स्मरण रक्खो कि तुम उन के समान हो अतएव हिंसमत करो और न दूसरे से हिंसा कराओ।

"दूसरों का दोष सहज में दिखलाई देता है परन्तु अपना दोष दिखलाई देना कठिन है। मनुष्य अपने पड़ोसी के दोषों को भूसी की भाँति पछोड़ता है परन्तु अपने दोष को वह इस भाँति छिपाता है जैसे कि कोई छल करने वाला, जुआरी से बुरे पासे को छिपाता है।" (धम्मपद)

"यह उत्तम नीच की शिक्षा की उन्नति कहलाती है, यदि कोई अपने पापों को पाप की भाँति देखे और उनका सुधार करे और भविष्यत में उनको न करे। (महावग्ग, ९ १, ९,)

"इस प्रकार जो मनुष्य जुदे जुदे हैं उन्हे वह एक करता है जो मित्र हैं उनको उत्साहित करता है, वह मेल करनेवाला है, मेल का चाहने वाला है मेल के लिये उत्सुक है, ऐसे कार्य्यों को करता है जिससे मेल हो।" (तेविज्जसुत्त २, ५)

इन उत्तम आज्ञाओं में उन आज्ञाओं की अद्भुत समानता को कौन नहीं देखेगा जिन्हें कि इसके पाँच सौ वर्ष उपरान्त पैलेस्टाइन में दयालु और पवित्र महात्मा ईसामसीह ने दिया था? परन्तु बौद्ध और ईसाई नीतिशास्त्र और धर्मव्यवहार की आज्ञाओं से जो सम्बन्ध है उसको हम आगे के अध्यायों में लिखेंगे।

अध्याय १५

बौद्ध धर्म का इतिहास।

चुल्लवग्ग के ग्यारहवें अध्याय में लिखा है कि गौतम की मृत्यु पर पूज्य महाकाश्यप ने प्रस्ताव किया कि 'धम्म और विनय साथ मिल कर गाया जाय।' यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया और ४९९ अर्हत इस कार्य्य के लिये चुने गए और गौतम के सब से प्रिय और अनुयायी आनन्द ने ५०० की संख्या पूरी कर दी।

"और इस प्रकार थेर भिक्षु लोग धम्म और विनय का साथ मिल कर पाठ करने के लिये गए।" उपालि जो कि पहिले

हज्जाम था वह विनय में प्रमाण माना गया और गौतम का मित्र आनन्द धम्म (सुत्त) में प्रमाण माना गया।

"यही राजगृह की सभा थी जो कि ईसा के ४७७ वर्ष पहिले गौतम की मृत्यु पर पवित्र पाठ को निश्चित करने और एक साथ पाठ कर के उसके स्मरण रखने के लिये, की गई थी।

गौतम की मृत्यु के एक शताब्दी पीछे वैशाली के भिक्षुओं (विज्जैनों) ने वैशाली में दस विषयों को प्रकाशित किया जिनमें कि अन्य बातों के अतिरिक्त भिक्षुओं के लिए बिना उबली हुई ताड़ी और सोने वा चाँदी ग्रहण करने की आज्ञा दी गई थी।

एक पूज्य भिक्षु ककण्डक के पुत्र यश ने इन आज्ञाओं का विरोध किया और पूज्य भिक्षुकों को वैशाली में एक बड़ी बौद्ध सभा कर के निमंत्रण दिया। उसने पश्चिमी देश के, अवन्ति के और दक्षिणी देश के भिक्षुओं के पास यह कह कर दूत भेजा कि आप लोग पधारें, हम लोगों को इस विषय का खण्डन उसके पहिले करना चाहिए कि जब तक जो धम्म नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो धम्म है वह जुदा न कर दिया जाय, जो विनय में नहीं है उसका प्रचार न हो जाय और जो विनय में है वह जुदा न कर दिया जाय।"

इस बीच में वैशाली के भिक्षुओं को विदित हुआ कि यश को पश्चिमी प्रान्तों के भिक्षुओं से सहायता मिल रही है और इन लोगों ने भी पूरब के प्रान्तों से सहायता का यत्न किया। वास्तव में भेद वैशाली के पूर्वी बौद्धों में और गंगा के ऊपरी भागों के आस पास के प्रान्तों के पश्चिमी बौद्ध तथा मालवा और दक्षिण के बौद्धों में था।

पूर्वी मत को वैशाली के विज्जैनों ने उठाया था और यदि ये विज्जैन लोग वे ही हों जो कि तुरान की यूची जाति के लोग हैं, जैसा कि बील साहब का मत है तो झगड़ा तुरानी बौद्धों और हिन्दू बौद्धों में था। हम लोग आगे चल कर देखेंगे कि पूर्वी लोगों की सम्मतियों को आगे चल कर उत्तरी बौद्ध लोगों ने फैलाया और इस उत्तरी सम्प्रदाय में संसार की तुरानी जातियां, चीन के लोग, जापान के लोग और तिब्बत के लोग सम्मिलित हैं।

सभा का कार्य मनोरञ्जक है। यह संघ वैशाली में हुआ और बहुत बात चीत के उपरान्त—

"पूज्य रेवत ने सङ्घ के सन्मुख यह बात उपस्थित की "पूज्यसंङ्घ मेरी बात सुने। इस विषय पर हम लोगों के वादविवाद करने में बहुत सी निरर्थक बातें होती हैं और किसी एक वाक्य का भी अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि सङ्घ को यह उचित जान पड़े तो वह पञ्च द्वारा इस प्रश्न का निर्णय करावे।"

और उसने प्रस्ताव किया कि पूरब के चार भिक्षु और पश्चिम के चार भिक्षु इस पञ्चायत में हों। इस प्रस्ताव पर सम्मति ली गई और सब सम्मति से ये आठो पञ्च नियत किये गए।

दस प्रश्न एक एक कर के पञ्चों के सन्मुख उपस्थित किए गए और पञ्चों ने उन दसों आज्ञाओं को स्वीकार नहीं किया जिनके लिये कि वैशाली के भिक्षुओं ने विरोध किया था। उन्होंने केवल छठीं आज्ञा को स्वीकार किया और यह प्रगट किया कि यह आज्ञा कुछ अवस्थाओं में मानी जा सकती है और कुछ अवस्थाओं में नहीं।

इस सभा में ७०० भिक्षु सम्मिलित किए गए थे और यह वैशाली की सभा कहलाती है। यह ईसा के ३७ वर्ष पहिले हुई थी।

परन्तु यह समझना नहीं चाहिए कि इन दसों प्रश्नों के विषय में जो निर्णय हुआ उसे सब लगों ने स्वीकार कर लिया। इन प्रश्नों का निर्णय वृद्ध और अधिक प्रबल भिक्षुओं ने किया था परन्तु अधिक लोग उनके विरुद्ध थे और वे बड़ी संख्याओं में शुद्ध धर्माधिकारियों से अलग हो गए और उत्तरी बौद्ध लोग इन जुदे होने वालों के उत्तराधिकारी हैं। और यही कारण है कि बौद्ध धर्म की दो भिन्न भिन्न शाखाएं हैं, एक तो नैपाल, तिब्बत और चीन के उत्तरी बौद्ध लोग और दूसरे लङ्का, बर्म्मा और स्याम के दक्षिणी बौद्ध।

यह बात अच्छी तरह देखी गई है कि नई धर्म्म प्रणालियों का, चाहे वे स्वभावतः कितनी ही उत्तम क्यों न हों, मनुष्यों के द्वारा स्वीकार किया जाना बाहरी घटनाओं पर बहुत कुछ निर्भर है। ईसाई धर्म को जिसने कि पहिली कुछ शताब्दियों में बहुत थोड़ी उन्नति की थी, उस समय महाराज कॉंस्टैनटाइन ने ग्रहण किया, जब कि रोम का अधिकार और रोम की शिक्षा यूरप में सर्वप्रधान थी और इस भांति इस धर्म्म ने पश्चिमी संसार में सुगमता से बड़ी शीघ्र उन्नती की। मुहम्मद के धर्म का प्रचार ऐसे समय में हुआ था जब कि संसार में उसका विरोध करने-

वाला कोई नहीं था, जब कि रोम का पतन हो चुका था और जब यूरप में सैनिक राजप्रथा स्थापित नहीं हुई थी। भारतवर्ष में प्राचीन हिन्दू धर्म्म का प्रचार आर्य्यों के पंजाब से निकलने और समस्त भारतवर्ष को विजय करने के साथही साथ हुआ था। इसी भांति बुद्ध के धर्म्म का जिसमें कि ब्राह्मण अथवा नीच जाति में कोई भेद नहीं था, प्रचार प्राचीन आर्य्य प्रान्तों की अपेक्षा मगध के अनार्य राज्य में बहुत अधिक हुआ। और ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में जब मगध के राज्य ने भारतवर्ष में सर्वप्रधानता पाई, उस समय बौद्ध धर्म्म भारतवर्ष का मुख्य धर्म्म हो गया। शिशुनाग वंश का जिसमें कि बिम्बिसार और अजातशत्रु हुए थे, ईसा के ३७० वर्ष पहिले अन्त हो गया और नन्द ने जो कि एक शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुआ था, राजगद्दी पाई। उसने और उसके आठों पुत्रों ने लगभग ५० वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम नन्द के आधीन एक पराजित विरोधी ईसा के ३२५ वर्ष पहिले मगध से भाग गया और सतलज के तट पर सिकन्दर से जा मिला। सिकन्दर के चले जाने पर चन्द्रगुप्त ने पश्चिम के वीर योधाओं को एकत्रित किया और ईसा के लगभग ३२० वर्ष पहिले अन्तिम नन्द को मार कर वह मगध की राजगद्दी पर बैठा।

न तो चन्द्रगुप्त और न उसका पुत्र बिन्दुसार बौद्ध था परन्तु बिन्दुसार के उत्तराधिकारी ने, जो कि ईसा के लगभग २६० वर्ष पहिले राजगद्दी पर बैठा, बौद्ध धर्म्म को ग्रहण किया और समस्त भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर भी वह इस धर्म्म का बड़ा भारी प्रचारक हुआ। अशोक का नाम वोलगा नदी से लेकर जापान तक और साइबेरिया से लेकर लङ्का तक सत्कार की दृष्टि से देखा जाता है। और "यदि किसी मनुष्य का यश उसके स्मरण करने वालों की संख्या से, उन लोगों की संख्या से जिन्होंने कि सम्मान से उसका नाम लिया हो या अब तक लेते हों, समझा जा सकता है तो अशोक शार्लमेगन वा सीजर से अधिक प्रसिद्ध है।" अशोक ने अपना राज्य सारे उत्तरी भारतवर्ष में फैलाया और उसके शिलालेख दिल्ली और इलाहाबाद में, पेशावर के निकट और गुजरात में, उड़ीसा और मैसूर में भी पाए गए हैं।

उसने अपनी तीसरी सभा अपने राज्य के अट्ठारहवें वर्ष में अर्थात् ईसा के २४२ वर्ष पहिले पटने में की। यह सभा ९ मास

तक हुई और इसमें मोग्गलि के पुत्र तिस्स के सभापतित्व में एक हजार प्रधान लोग सम्मिलित थे। और इस में एक बार फिर भी पवित्र पाठों का उच्चारण किया गया और वे निश्चित किए गए।

दीपवंश और महावंश में लिखा है कि इस सभा के होने के उपरान्त अशोक ने काश्मीर और गांधार में, महीश (मैसूर के निकट) में, वनवासी (सम्भवतः राजपुताने) में, अपरन्तक (पश्चिमी पंजाब) में, महारत्थ, योनलोक (बेक्ट्रिया और यूनान राज्यों में) हिमवंत (मध्य हिमालय), सुवन्न भूमि (सम्भवतः बर्मा) और लंका में उपदेशकों को भेजा। अशोक के सूचनापत्रों से यह भी विदित होता है कि उसकी आज्ञाओं का पालन चोल (मद्रास प्रदेश) पांड्य (मदुरा), सत्यपुर (सतपुरा पर्वतश्रेणी) केरल (ट्रावंकोर), लङ्का और सीरिया के यूनानी राजा एन्टीओकस के राज्य में किया गया। और एक दूसरे सूचना पत्र में वह लिखता है कि उसने पांचो यूनानी राज्यों में अर्थात् सीरिया, इजिप्ट, मेसेडन, एपिरोस और सिरिन में भी दूत भेजे।

हम पहले ही देख चुके हैं कि अशोक ने अपने पुत्र महिन्द को लङ्का में भेजा और उसने शीघ्र ही वहां के राजा को बौद्ध बना लिया और लङ्का में बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया। महिन्द ने जहां जहां कार्य्य किया वे स्थान अब तक भी लङ्का में हैं। अनुराधपुर के उजड़े हुए नगर से आठ मील की दूरी पर मिहिन्तले की पहाड़ी है जहां कि लङ्का के राजा ने भारतवर्ष के भिक्षुओं के लिये एक मठ बनवाया था। "यहां इस पहाड़ी के पश्चिम ओर जो कि गहरी ढालुओं और एक बड़ी भारी चट्टान के नीचे एक ऐसे स्थान पर जो कि बस्ती से बिलकुल जुदा है, और जहां से नीचे के मैदानों का बड़ा उत्तम दृश्य दिखाई देता है उसने (महिन्द ने) अध्ययन के लिये एक गुफा खुदवाई थी और उस चट्टान में सीढ़ियां कटवाई थीं और केवल उन्हीं के द्वारा लोग उस स्थान में पहुंच सकते थे। वहां वह खाट भी जो कि ठोस चट्टान को काट कर बनाया गया था अब तक है और उसमें छेद हैं जो कि या तो पर्दे के डंडों के लिये अथवा रक्षा के लिये कटघड़े लगाने के लिये बनवाए गए थे। यह यहां चट्टान गुफा को उस धूप की गर्मी से बहुत अच्छी तरह बचाती है जो कि नीचे की चौड़ी घाटी को तपा देती है। उसमें नीचे के मैदान का जो कि अब एक बहुत दूर तक फैला हुआ जंगल है परंतु उस

समय कामकाजी मनुष्यों का निवासस्थान था, कोई शब्द नहीं पहुंचता... मैं सहज में उस दिन को नहीं भूल जाऊंगा जब कि मैं ने पहिले पहिल इस एकान्त, ठंढी और शान्त गुफा में प्रवेश किया था जो कि बड़ी सादी और फिर भी बड़ी सुन्दर है जहां कि दो हजार वर्षों से अधिक हुआ कि लङ्का के इस बड़े शिक्षक ने अपने शान्तमय तथा उपकारी दीर्घ जीवन में बैठ कर ध्यान किया और कार्य्य किया था।"

तिसा और महिन्द की मृत्यु के उपरान्त द्रवीडियन लोगों ने लङ्का पर दो बार आक्रमण कर के उसे विजय किया था परन्तु अन्त में ईसा के लगभग ८८ वर्ष पहिले उन्हें वट्ट गामिनि ने निकाल दिया। कहा जाता है कि उसी समय तीनों पितक जो कि इतने वर्षों तक केवल कण्ठाग्र रख कर रक्षित रक्खे गए थे "मनुष्यों का नाश देख कर" लिपिबद्ध किए गए जैसा कि दीपवंश में लिखा है।

बुद्धघोश बौद्धों की धर्म्म पुस्तकों का बड़ा भारी भाष्यकार हुआ है। उसे बौद्धों का सायनाचार्य्य कहना चाहिए। वह मगध का रहने वाला एक ब्राह्मण था और उसने लङ्का में जा कर उन महाभाष्यों को लिखा जिनके लिये कि वह प्रसिद्ध है। तब वह लगभग ४५० ईस्वी में वर्मा गया और उस देश में बौद्ध धर्म्म का उसने प्रचार किया।

श्याम में ६३८ ईस्वी में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। जान पड़ता है कि उसी समय के लगभग जावा में भी बौद्ध उपदेशक गए और ऐसा विदित होता है कि यह धर्म जावा से ही सुमात्रा में फैला। ये सब देश दक्षिणी बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं।

उत्तरी बौद्ध धर्म के विषय में हम जानते हैं कि ईस्वी सन के प्रारम्भ होने के पहिले वह उत्तर पश्चिमी भारतवर्ष का मुख्य धर्म था। काश्मीर का राजा पुष्पमित्र ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बौद्धों के पीछे पड़ गया और पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने गंगा के तट पर यूनानियों से मोकाबिला किया। यूनानी लोग जो कि मेनेण्डर के आधीन थे विजयी हुए और ईसा के लगभग १५० वर्ष पहिले उन्हों ने अपना राज्य गंगा नदी तक फैला दिया। परन्तु यूनानियों के विजय से बौद्ध धर्म को कोई हानि नहीं पहुंची और उस समय के एक प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षक नागसेन ने यूनानी

राजा के साथ अपने धर्म के विषय में वादविवाद किया जो कि एक मनोरञ्जक पाली ग्रन्थ में हम लोगों के लिये अब तक रक्षित है।

ईसा के उपरान्त पहिली शताब्दी में कनिष्क के आधीन यूची लोगों ने काश्मीर को विजय किया। कनिष्क का बड़ा राज्य काबुल, यारकण्ड और खोकान में, काश्मीर और राजपूताना में और समस्त पंजाब में, दक्षिण में गुजरात और सिन्ध और पूरब में आगरे तक फैला हुआ था। वह उत्तरी सम्प्रदाय का एक बड़ा उत्साही बौद्ध था और उसने ५०० अरहतों की एक सभा की; यदि इस सभा ने अशोक की पटने की सभा की नाईं पाठों को निश्चित किया होता तो इस समय हम लोगों के पास दक्षिण के तीनों पिटकों की नाईं उत्तरी बौद्ध धर्म की निश्चित पुस्तकें भी होतीं परन्तु कनिष्क की सभा ने केवल तीन भाष्य लिख कर अपने को सन्तुष्ट किया और इस कारण उत्तरी बौद्ध धर्म, मूल धर्म से हटता गया है और उसने भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। यहां पर यह कहना अनावश्यक होगा कि कनिष्क की सभा दक्षिणी बौद्धों को उसी प्रकार विदित नहीं है जिस प्रकार की अशोक की सभा उत्तरी बौद्धों को। अश्वघोष जिसने कि उत्तरी बौद्धों के लिये बुद्ध का एक जीवनचरित्र लिखा है कनिष्क के यहां था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ईसाई चेला सेण्ट टोमस इसी प्रकार पार्थियन भारतवर्ष में आया और यहां मारा जाकर शहीद हुआ। ईसाई मत का राजा गोंडोफारिस, कन्दहार का कनिष्क समझा जाता है। ईसा के पहिले दूसरी शताब्दी में बौद्ध पुस्तकें सम्भवतः काश्मीर से चीन के सम्राट् के पास भेजी गईं। एक दूसरे सम्राट् ने सन् ६५ ईस्वी में अधिक बौद्ध ग्रन्थ मंगवाए और उसी समय से बौद्ध धर्म का चीन में अधिक प्रचार होने लगा यहां तक कि चौथी शताब्दी में यह वहां का प्रधान धर्म हो गया।

चीन से सन् ३७२ ईस्वी में कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और वहां से ५५२ ईस्वी में जापान में। कोचीन, चीन, फारमूसा, मंगोलिया तथा अन्य स्थानों में चौथी और पांचवीं शताब्दियों में चीन से बौद्धधर्म का प्रचार हुआ, और काबुल से यह धर्म यारकन्द, बल्ख, बुखारा, तथा अन्य स्थानों में फैलता गया।

नैपाल में बौद्धधर्म का कुछ प्रचार बहुत पहिले ही हो गया होगा। परन्तु यह राज्य छठीं शताब्दी में बौद्ध हो गया और

तिब्बत के प्रथम बौद्ध राजा ने भारतवर्ष से सन् ६३२ ईस्वी में धर्मग्रन्थ मंगवाए।

अब हम दक्षिणी देशों तथा उत्तर और पूरब की जातियों में बौद्धधर्म के प्रचार का इतिहास लिख चुके। और अब हमारे लिये अशोक के उन उपदेशों का फल निश्चित करना रह गया है जिन्हें कि उसने पश्चिम में अर्थात ईजिप्ट और पैलेस्टाइन में भेजा था। और यह हमें आधुनिक सभ्यता और धर्म के इतिहास के एक बड़े मनोरञ्जक प्रश्न के सम्मुख लाता है।

बौद्ध और ईसाई धर्मों की कथा, कहानियों, रूप, व्यवस्था और आज्ञाओं की अद्भुत समानता ने प्रत्येक जिज्ञासु के हृदय पर प्रभाव डाला है। उदाहरण की भांति इनमें से हम कुछ बातों का उल्लेख नीचे करेंगे।

बुद्ध के जन्म के सम्बन्ध की कथाएं ईसामसीह के जन्म की कथाओं के समान हैं। दोनों अवस्थाओं में उनके पिता और माता को दैवी सूचना हुई और इन दोनों ही बच्चों का जन्म अलौकिक रीति से अर्थात् कुमारी माताओं से हुआ। ललितविस्तार में लिखा है कि "राजा की सम्मति से रानी को कुमारी की भांति बत्तीस महीनों तक जीवन व्यतीत करने की आज्ञा मिली। परन्तु यह कथा दक्षिणी बौद्धों के प्राचीन पाली ग्रन्थों में नहीं मिलती।

ईसामसीह की भांति गौतम के जन्म पर भी एक तारा दिखाई पड़ा था और यह पुष्प का तारा था जिसे कि कोलब्रुक साहब ने निश्चित किया है। असित, जो कि बौद्ध कथा का सीमियन है, गौतम के पिता के पास आया और उसने इस दैवी पुत्र को देखने की अभिलाषा प्रगट की। उसे यह बच्चा दिखलाया गया और उसने यह भविष्यत वाणी कही कि यह पुत्र सत्य को स्थापित करेगा और उसके धर्म का बड़ा प्रचार होगा (नालकसुत्त)

हम उन बड़े शकुनों को बड़ा आवश्यक नहीं समझते जो कि दोनों शुभ अवस्थाओं को सूचित करते थे। बुद्ध के जन्म पर "अन्धों ने इस प्रकार दृष्टि पाई मानों उन्हें उसके प्रताप को देखने ही की कामना रही हो, बहिरे लोग सुनने लगे, गूँगे एक दूसरे से बात करने लगे, कुबड़े सीधे हो गए, लँगड़े लोग चलने लगे, कैदियों के बन्धन मुक्त हो गए।" ऐसी शुभ बातें सब ही धर्मों के लोग

अपने धर्म को स्थापित करनेवालों के जन्म होने के समय बतलाते हैं।

हम पहिले ही गौतम और ईसामसीह के प्रलोभन की घनिष्ठ और अद्भुत समानता के विषय में कह चुके हैं। ललितविस्तार में यह कथा काव्य की भाषा में कही गई है परन्तु जैसी कि वह दक्षिणी पुस्तकों में कही गई है उससे भी बाइबिल की कथा से उसकी अद्भुत समानता मिलती है।

ईसामसीह की नाईं गौतम के भी बारह चेले थे। उसने अपनी मृत्यु के थोड़े ही समय पहिले कहा है "केवल मेरे ही धर्म में बारह बड़े चेले पाए जा सकते हैं जो कि सर्वोच्च पुण्यों को करते हैं और संसार को उसके दुःखों से छुटकारा दिलाने के लिये उत्साहित हैं।" और इसी प्रकार के भाव ने कपिलवस्तु के उपदेशक तथा बेथिलहेम के उपदेशक दोनों ही को उत्तेजित किया। गौतम ने कहा था "तुम में से कोई दो, एक ही मार्ग से न जाय। हे भिक्षुओ इस सिद्धान्त का उपदेश करो जो कि उत्तम है।" (महावग्ग १, ११, १)

धर्म ग्रहण करने के पहिले जलसंस्कार की रीति बौद्ध और ईसाई दोनों ही धर्मों में है और वास्तव में जान बैपटिस्ट ने जल-संस्कार की रीति एसेनीज़ से ग्रहण की थी जो कि ईसामसीह के जन्म के पहिले पैलेस्टाइन में बौद्ध धर्म का प्रतिनिधि था जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। जब ईसामसीह गैलिली में केवल नवयुवक था उस समय उसने जान बैपटिस्ट का यश सुना और वह जान के यहां गया और उसके साथ रहा और इसमें सन्देह नहीं कि उसने जान से एसेनीज़ की बहुत सी आज्ञाओं और शिक्षाओं को सीखा और जलसंस्कार की रीति को ग्रहण किया जिसे कि जान इतने काल तक करता आया था। उस समय से जलसंस्कार ईसाई धर्म की एक मुख्य रीति हो गई है। ईसाई जलसंस्कार के समय पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा का स्वीकार किया जाता है जैसे कि बौद्ध अभिषेक के समय में बुद्ध, धर्म, और संघ का स्वीकार करना होता है।

हम उन अलौकिक बातों का वर्णन नहीं करेंगे जो कि गौतम और ईसामसीह दोनों ही के द्वारा की हुई कही जाती हैं। और हम गौतम की कथा का भी वर्णन नहीं करेंगे जिसके विषय में कि

हमने पिछले अध्याय में कुछ लिखा है और जिसकी कि ईसाई कथाओं से इतनी अद्भुत समानता है। रेनान साहब, जो कि ईसाई धर्म की उन्नति में बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ने को स्वीकार करने के बहुत विरुद्ध हैं कहते हैं कि जुदा के धर्म में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसने कि ईसा मसीह को उपमा की प्रणाली में लिखने के लिये उत्तेजित किया हो। इसके सिवाय "हमें बौद्ध पुस्तकों में ठीक वह दिव्य कथाओं की गाथा और वही ईश्वरी कहानियाँ मिलती हैं।"

अब हम सम्प्रदायों की रीतियों, विश्वासों और क्रियाओं को देखते हैं तो हमें दोनों धर्मों की उन की अद्भुत समानता से बड़ा आश्चर्य होता है। इसके विषय में डाक्टर [illegible] साहब लिखते हैं "यदि यह सब दैवसंयोग से हुआ हो तो यह समानता की बड़ी भारी अलौकिक घटना है, वास्तव में वह दस हजार अलौकिक घटनाओं के समान है।"

अब्बे हुक नामक एक रोमन कैथोलिक उपदेशक ने तिब्बत में जो कुछ देखा उससे उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। "पादरियों की छड़ी, टोपी, चोगा आदि जिन्हें कि बड़े लामा लोग यात्रा के समय अथवा मन्दिर के बाहर किसी उत्सव के समय पहिनते हैं, पूजा के समय जो दोहरा गाना होता है, भजन, झाड़ फूंक, धूपदान का पाँच सिकड़ियों में लटकना और उसे इस प्रकार बना रहना कि वह इच्छानुसार खोला या बन्द किया जा सके, भक्तों के सिर के ऊपर लामा लोगों का दहिना हाथ फैला कर आशीर्वाद देना, माला, पुजारियों का अविवाहित रहना, संसार से विराग, महात्माओं की पूजा, निराहार रहना, धार्मिक यात्रा, प्रार्थनाएं, पवित्र जल ये सब बातें बौद्ध लोगों तथा हम लोगों में समान रूप से पाई जाती हैं।" मिस्टर आर्थर लिली साहब अपनी पुस्तक में जिसका उल्लेख किया गया है कहते हैं कि बौद्धों में सन्यास आदि की पूरी पूरी बातें पाई जाती हैं और वह उनमें गानों का भी उद्योग करते थे वैसे पापों का स्वीकार करना, पुजारियों का भाग्य के दिन का गाना, महात्माओं की हड्डी का पूजन, मन्दिरों और वस्तुओं के सामने फूलों, रोशनी और मूर्तियों को भेंट में लाना, वेदियों पर क्रास का चिन्ह, त्रिमूर्ति का भेद, स्वर्ग की रानी की पूजा, धर्म पुस्तकों का ऐसी भाषा में होना जो कि अधिकांश पूजा करनेवालों को विदित नहीं है, महात्माओं और बुद्धों का ताज, फरिश्तों के पर, प्रायश्चित, कोड़े

लगाना, पंखा, पोप, कार्डिनल, बिशप, एबट, प्रेसबिटर, डीकन, और ईसाई मन्दिर में भिन्न भिन्न प्रकार की बनावटें।" हमारे लिये इन सब रीतियों और विधानों का ब्योरेवार वर्णन करना अथवा यह दिखलाना कि रोमन कैथेलिक प्रणाली की सब बातें किस प्रकार बौद्ध धर्म की बिलकुल नकल जान पड़ती हैं, सम्भव नहीं है। यह समानता इतनी अधिक है कि तिब्बत में पहिले पहिल जो ईसाई उपदेशक लोग गए उन लोगों का यह विश्वास हुआ कि बौद्ध लोगों ने रोमन कैथेलिक सम्प्रदाय से बहुत से विधानों और रूपों को ग्रहण किया है और ऐसा ही उन्होंने लिखा है परन्तु यह बात सुप्रसिद्ध कि बौद्धों ने ईसा मसीह के जन्म के पहिले भारतवर्ष में बहुत से बड़े बड़े मंन्दिर बनवाए थे और पटने के निकट नालंदे में बौद्धों का एक बड़ा भारी मठ एक धनसम्पन्न मन्दिर और एक विद्वत्तापूर्ण विश्वविद्यालय था जो कि यूरोप में ऐसे मन्दिर वा मठ होने के बहुत पहिले था और भारतवर्ष में जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो नालंदे तथा दूसरे स्थानों की बड़ी बड़ी बौद्ध रीतियों, विधानों और व्यवस्थाओं की नैपाल और तिब्बत के बौद्धों ने नकल की और यह यूरप के जंगली जातियों के आक्रमण से मुक्ति पाने अथवा सैनिक सभ्यता वा धर्म प्रबन्ध के स्थापित होने के पहिले हुआ। अत एव यह स्पष्ट है कि मन्दिरों और मठों के प्रबन्ध और बनावट इत्यादि की सब बातों को जो कि दोनों धर्मों में समान हैं यूरप के लोगों ने पूर्वी देशों से ग्रहण किया था, पूर्वी देशों ने यूरप से नहीं।

हम को यहां पर बौद्ध धर्म के उत्तर काल के रूपों से कोई मतलब नहीं है। बौद्ध धर्म का गुण नालन्द और तिब्बत की आडम्बरयुक्त रीतियों और विधानों में नहीं है जिनकी कि कई शताब्दियों के उपरान्त रोम में पुनः उत्पत्ति हुई थी परन्तु उसका यश सदाचार की उन अपूर्व शिक्षाओं में है जिनका उपदेश कि स्वयं गौतम ने बनारस और राजगृह में दिया था और जिसकी पुनरुत्पत्ति जरूसलेम में पांच शताब्दियों के उपरान्त हुई थी। एम रेनेन साहब कहते हैं कि " उसके (ईसा मसीह के) समान किसी ने कभी अपने जीवन में मनुष्य जाति के लाभों की मुख्यता और स्वार्थ की तुच्छता को नहीं माना है...कदाचित् शाक्य मुनी को छोड़ कर उसके समान और कोई मनुष्य नहीं हुआ है जिसने

अपने कुटुम्ब, इस जीवन के सुखों और सांसारिक भावनाओं को इतना अधिक कुचलडाला हो।" जो मनुष्य कि तुम्हें दुःख दे उसके साथ भलाई करना, जो तुम से घृणा करे और कष्ट दे उस पर स्नेह करना और भलाई के लिये संसार को त्याग देना, ये गौतम और ईसा मसीह दोनों की मुख्य शिक्षाएँ थी। क्या ये सब समानताएं केवल आकस्मिक हुई हैं?

इस बड़े प्रश्न के विषय में सम्मति स्थिर करने के लिये हम अपने पाठकों के लिये कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करेंगे हम लोग अशोक के विज्ञापनों से जानते हैं कि उसने ईजिप्ट और सीरिया में बौद्ध उपदेशकों को भेजा और ये उपदेशक उन देशों में बसे और वहां उन्हों ने बड़े और प्रबल बौद्ध समाज स्थापित किए। अलग्जेण्ड्रिया के थेरापूटस और पेलेस्टाइन के एसिनीज़ जो कि यूनानियों में इतने सुप्रसिद्ध हैं, वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं की सम्प्रदाय के थे जो कि बौद्ध रीतियों को करते थे, बौद्ध सिद्धान्तों और आज्ञाओं का उपदेश देते थे और पश्चिम के देशों में गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करते थे। डीन मेन्सल और डाग मिलमैन की नाई ईसाई विद्वान और शेलिंग और शोपेनहौअर की नाईं दार्शनिक लोग समान रीति से इस बात को स्वीकार करते हैं कि थेरापुटस और एसेनीज़ उन्हीं बौद्ध उपदेशकों के सम्प्रदाय के थे जो कि भारतवर्ष से आए थे।

यह सम्प्रदाय जीवित रही और अपना कार्य्य करती रही। अशोक के समय से तीन शताब्दियों के उपरान्त उस समय जब कि ईसा मसीह उपदेश देता था, एसेनीज़ इतने प्रसिद्ध और प्रबल हो गए थे कि प्रसिद्ध प्लिनी ने उनके विषय में लिखा है।

प्लिनी सन् २३ और ७९ ईस्वी के बीच में हुआ है और वह एसेनीज़ लोगों का वर्णन इस भांति करता है:-"(डेड सी के) पश्चिमी किनारे पर परन्तु समुद्र से इतनी दूर की वे अपकारक हवाओं से बचे रहें, एसेनीज़ लोग रहते थे। ये एक ऐसी सम्प्रदाय के हैं जो कि संसार के अन्य सम्प्रदायियों से विलक्षण हैं। उनके स्त्री नहीं होती, वे स्त्री प्रसंग को बिलकुल त्याग देते हैं और अपने पास द्रव्य नहीं रखते और खजूर के वृक्षों के निकट रहते हैं। उनके निकट नित्य नई नई भीड़ एकत्रित होती है, बहुत से मनुष्य, जीवन की थकावट और अपने जीवन में दुर्भाग्यों के कारण उनका आश्रय लेते हैं।

इस प्रकार हज़ारों वर्ष तक जिसका कि उल्लेख करना अविश्वास्य है, उनका समाज जिसमें कि कोई जन्म नहीं लेता, स्थिर रहा है। " यह एक बड़ा अच्छा प्रमाण है। यह प्रमाण एक पक्षपातरहित शिक्षित रोमनिवासी का है जिसने कि ईसा मसीह के समय में पेलेस्टाइन में पूर्वी विचारों और रीतियों की जो उन्नति हुई थी उसका वर्णन किया है। हमें उपरोक्त वाक्यों से यह विदित होता है कि अशोक के समय के उपरान्त तीन शताब्दियों में बौद्ध उपदेशकों ने पेलेस्टाइन में क्या फल प्राप्त किया। उन्होंने वहां भारतवर्ष के बौद्धों की भांति एक सम्प्रदाय स्थापित कर ली थी और वह सम्प्रदाय उन्हीं अभ्यासों को करती थी उन्हीं ध्यानों में अपने को लगाती थी और उसी संयम के साथ अविवाहित रह कर जीवन व्यतीत करती थी जैसा कि भारतवर्ष के बौद्ध लोग करते थे। गौतम की आज्ञाओं का प्रभाव उन पर जाता नहीं रहा था। वे उनका सत्कार करते थे और उनके अनुसार चलते थे और धार्मिक तथा विचारवान यहूदियों में उनका प्रचार करते थे।

अब हम इस विषय को यहां समाप्त करेंगे। हम दिखला चुके हैं कि सीरिया में ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म्म का उपदेश किया गया था। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह के जन्म के समय बौद्ध धर्म्म पेलेस्टाइन में ग्रहण किया जा चुका था और बौद्ध लोग वहां भिन्न भिन्न नामों से रहते थे और गौतम के सिद्धान्तों और उसकी आज्ञाओं का उपदेश करते थे। हम दिखला चुके हैं कि ईसा मसीह ने इन बौद्धों की रीतियों और शिक्षाओं को जान के द्वारा और सम्भवतः अन्य मार्गों से भी सीखा। और अन्त में हम ईसा मसीह की आज्ञाओं और बौद्ध आज्ञाओं की विचार और भाव की अद्भुत समानता, ईसाई और बौद्धों के संसार त्याग करके उनके रीतियों कथाओं और रूपों की अद्भुत समानता भी दिखला चुके हैं। क्या यह समानता आकस्मिक है? इस विषय में पाठकों को स्वयं अपनी सम्मति स्थिर करनी चाहिए।

कुछ ग्रन्थकार लोग तो यहां तक कहते हैं कि प्राचीन ईसाई धर्म्म एसिनीज़ लोगों का धर्म्म अर्थात् पेलेस्टाइन का बौद्ध धर्म्म था हम इस बात से सहमत नहीं हैं। सिद्धान्तों के विषय में ईसाई धर्म्म बौद्ध धर्म्म का अनुगृहीत नहीं है। ईसा मसीह ने यहूदियों

ज्ञातीय अद्वैतवाद धर्म को उसी भांति ग्रहण किया था जैसा कि गौतम ने हिन्दुओं के पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्तों को। परन्तु ईसाई धर्म नीति और सदाचार के विचार से बौद्ध धर्म का उस रूप में अनुगृहीत है जिस रूप में कि वह ईसा मसीह के जन्म के समय में पेलेस्टाइन में एसेनीज़ लोगों के द्वारा उपदेश किया जाता था।

अध्याय १६

जैन धर्म का इतिहास।

बहुत समय तक लोगों का यह विश्वास था कि जैन धर्म गौतम बुद्ध के धर्म की एक शाखा है। हुेनत्सांग ने जो कि ईसा की सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आया था इस धर्म को इसी दृष्टि से देखा है और हम लोगों को जैन धर्म के सिद्धान्तों की जो बातें अब तक विदित हुई हैं उनसे यह विचार ठीक जान पड़ता है।

लेसन और वेबर साहब बड़े अच्छे प्रमाणों के साथ जैन धर्म की स्वतंत्र उत्पत्ति का विरोध करते थे और इन दोनों विद्वानों का मत था कि जैन लोग बौद्ध ही थे जिन्होंने अपना धर्म छोड़ कर उस धर्म की एक नुई शाखा चलाई थी। जैनियों के धर्मग्रंथ पाँचवीं शताब्दी तक लिपिबद्ध नहीं किए गए थे और बार्थ साहब का यह सिद्धान्त बहुत सम्भव जान पड़ता था कि जैनियों की कथाओं और उनके धर्म की उत्पत्ति बौद्धों की कथाओं से हुई है। भारतवर्ष में जैनियों की शिल्पविद्या भी उसी काल के समय की है और जैसा कि हम किसी आगे के अध्याय में देखेंगे वह बौद्धों की इमारतों के पतन होने के कई शताब्दियों के उपरान्त प्रारम्भ की गई थी।

परन्तु डाक्टर बुहलर और जेकोबी साहबों ने अभी कुछ बातों का पता लगाया है जिनसे कि वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि जैन धर्म की उत्पत्ति गौतम के धर्म की उत्पत्ति के साथ ही हुई और ये दोनों धर्म कई शताब्दियों तक बराबर प्रचलित रहे यहां तक कि बौद्धों के धर्म का पतन हुआ परन्तु जैन धर्म अब तक भी भारतवर्ष के कुछ भागों में एक प्रचलित धर्म है। हम अपने पाठकों के सामने उन घटनाओं और कथाओं को उपस्थित करेंगे जिनके आधार पर यह सम्मति स्थिर की गई है।

दोनों सम्प्रदाय के जैन अर्थात् श्वेताम्बर (सफ़ेद कपड़े वाले) और दिगम्बर (जो नंगे रहते हैं) कहते हैं कि इस धर्म्म का संस्थापक महावीर कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ का पुत्र था और वह ज्ञात्रिक क्षत्रियों के वंश का था । हम जानते हैं कि गौतम बुद्ध जब भ्रमण करता हुआ कोटिग्राम में आया तो वहाँ अम्बपाली वेश्या और लिच्छवि लोगों ने उससे भेंट की । यह कोटिग्राम वही है जो कि जैनियों का कुण्डग्राम है और बौद्ध ग्रन्थों में जिन नातिकों का वर्णन है वेही ज्ञात्रिक क्षत्रिय थे। इसके अतिरिक्त महावीर की माता त्रृसा वैशाली के राजा चटक की बहिन कही जाती है जिसकी पुत्री का विवाह मगध के प्रसिद्ध राजा बिम्बिसार से हुआ था ।

महावीर, जो कि पहिले वर्द्धमान वा ज्ञात्रिपुत्र कहलाता था अपने पिता की नाईं काश्यप था । २८ वर्ष की अवस्था में उसने पवित्र सम्प्रदाय को ग्रहण किया और बारह वर्ष तक आत्मकष्ट सहकर केवलिन् अथवा जिन, तीर्थंकर वा महावीर अर्थात् महात्मा और भविष्यतवक्ता हो गया । अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में उसने अपने सन्यासियों का सम्प्रदाय स्थापित किया । इस प्रकार वह गौतम बुद्ध का प्रतिद्वन्द्वी था और बौद्ध ग्रन्थों में उसका नाति पुत्र के नाम से वर्णन किया गया है और वह निगन्थों (निर्ग्रन्थों अर्थात् बन्धन रहित लोगों) का मुखिया कहा गया है जो लोग कि वैशाली में अधिकता से थे । महावीर पावा में मरा ।

जैन कथाओं में यह वर्णन है कि महावीर की मृत्यु के दो शताब्दी पीछे मगध में अकाल पड़ा । उस समय मगध में प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त का राज्य था । भद्रबाहु अपने कुछ जैन साथियों को लेकर अकाल के कारण मगध छोड़कर कर्नाटक को गया । उसकी अनुपस्थिति में मगध के जैनियों ने अपने धर्म्म ग्रन्थों का निर्णय किया जिसमें कि ग्यारह अंग और चौदह पूर्व हैं और इन चौदह पूर्वों को कभी कभी बारहवां अंग भी कहते हैं । अकाल दूर होने पर जो जैनी लोग चले गये थे वे मगध में फिर आए परन्तु इतने समय में जो लोग मगध में रहे थे और जो कर्नाटक को चले गये थे उनके चाल व्यवहार में भेद हो गया था । मगध के जैन श्वेत वस्त्र पहिनने लगे थे परन्तु कर्नाटकवाले अब तक भी नंगे रहने की प्राचीन रीति को पकड़े हुए थे । इस प्रकार से दोनों श्वेताम्बर और दिगम्बर कहलाने लगे । श्वेताम्बरों ने जो धर्म्मग्रन्थ निश्चित किए

थे उन्हें दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया और इस कारण दिगम्बरों में कोई अंग नहीं माने जाते। कहा जाता है कि ये दोनों सम्प्रदाय अन्तिम बार सन् ७९ वा ८२ ईस्वी में जुदे हुए।

कुछ समय में श्वेताम्बरों के धर्म्मग्रन्थ गड़बड़ हो गए और उनके नाश हो जाने का भय हुआ। अतएव उनको लिपिबद्ध करना आवश्यक हुआ और यह वल्लभी (गुजरात में) की सभा में सन् ४५४ वा ४६७ में किया गया। इस सभा ने जैन नियमों का उस रूप में संग्रह किया जिसमें कि हम आज तक उन्हें पाते हैं।

इन घटनाओं और कथाओं के अतिरिक्त मथुरा में जैन मूर्त्तियों के पद पर खुदे हुए लेख पाए गए हैं जिनसे डाक्टर बुहलर (जिसने कि पहिले पहिल इस प्रमाण को मालूम किया है) के मत के अनुसार यह प्रगट होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ईसा की पहिली शताब्दी में वर्तमान थी। इन शिलालेखों में काश्मीर के राजा कनिष्क का संवत् अर्थात् शक संवत् दिया है जो कि सन् ७८ ईस्वी में प्रारम्भ हुआ था। इनमें से एक शिलालेख में जो कि नौ शक संवत् (अर्थात् ८७ ईस्वी) का है लिखा है कि उस मूर्त्ति को एक जैन उपासक विकटा ने बनवाया था।

यही उन प्रमाणों का सारांश है कि जिन से यह फल निकाला जाता है कि जैन धर्म्म बौद्ध धर्म्म का समकालीन है और वह उसकी शाखा नहीं है। बौद्ध ग्रन्थों में "नातपुत्र" और "निर्ग्रन्थों" का उल्लेख होने से यह विचारना यथोचित है कि नंगे जैनियों के सम्प्रदाय की उत्पत्ति भी उसी समय के लगभग हुई थी। वास्तव में हम कई बार लिख चुके हैं कि गौतम बुद्ध जिस समय शिक्षा देता था और अपने भिक्षुओं के सम्प्रदाय को पथ दिखलाता था, उस समय भारतवर्ष में सन्यासियों के कई सम्प्रदाय थे। किन्तु इस का मानना बहुत कठिन है यह बात है कि जैन धर्म्म, जैसा कि हम उसे इस समय पाते हैं, ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ लोग मानते थे। यह कथा कि जैनियों का नियम भद्रबाहु के समय में मगध की सभा में निश्चित किया गया, सम्भवतः कल्पित है और यदि यह कथा सत्य भी होती तो ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में जो नियम निश्चित किए गए थे उनमें ईसा के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी के लिखे हुए नियमों से बड़ा भेद होता। क्योंकि इसमें बहुत कम सन्देह हो सकता है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ लोगों के

धर्म्म में बहुत पहिले से परिवर्तन हुआ है और वह पूर्णतया बदल गया है, और इस सम्प्रदाय के अधिक शिक्षित लोगों ने जिन्होंने कि श्वेत वस्त्र ग्रहण किया, बराबर अपनी कहावतों और आज्ञाओं को, अपने नियमों और रीतियों को, अपनी कथा और वार्ताओं को बौद्ध धर्म्म से ग्रहण किया जोकि ईसा के पहिले तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष का प्रचलित धर्म्म था। इस प्रकार जैन लोग कई शताब्दियों तक बौद्ध धर्म्म को अधिकतर ग्रहण करते गए यहाँ तक कि उन्होंने बौद्धधर्म्म के सारांश को अपने ही धर्म्म की भांति ग्रहण कर लिया और नंगे निर्ग्रन्थों के प्राचीन धर्म्म का बहुत कम अंश बाकी रह गया था। उसी समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में उनके धर्म्म ग्रन्थ लिपिबद्ध किए गए हैं और इस कारण यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है कि वे उन बौद्ध ग्रन्थों की नकल जान पड़ते हैं जो कि ६ शताब्दी पहिले लिखे जा चुके थे। तब यह मान कर कि निर्ग्रन्थों की स्वतंत्र उत्पत्ति ईसा से छठीं शताब्दी में हुई हम हुइनत्सांग को बहुत गलत नहीं समझ सकते कि उसने जैन धर्म्म को सांतवीं शताब्दी में जैसा उसने देखा (और जिस दृष्टि से कि आज हम उसे देखते हैं) बौद्ध धर्म्म की शाखा समझा हो।

बौद्धों और निर्ग्रन्थों के साथ साथ संन्यासियों के जो अन्य सम्प्रदाय ईसा के पहिले छठीं शताब्दी में थे उनमें अपने समय में सब से प्रसिद्ध गोशाल के स्थापित किए हुए आजीवक लोग थे। अशोक ने ब्राह्मणों और निर्ग्रन्थों के साथ साथ उनका भी उल्लेख अपने शिलालेखों में किया है। यद्यपि गोशाल बुद्ध और महावीर का प्रतिद्वन्द्वी था परन्तु उसके सम्प्रदाय का अब लोप हो गया है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे यह विदित होता है कि जैनियों के धर्म्म में बौद्धों से बहुत कम अन्तर है। बौद्धों की भांति जैनियों का भी संन्यासियों का सम्प्रदाय है और वे जीवहिंसा नहीं करते और संसार को त्यागने की प्रशंसा करते हैं। कुछ बातों में वे बौद्धों से भी बढ़ गए हैं और उनका मत है कि केवल पशु और वृक्षों में ही नहीं वरन् तत्वों अर्थात् अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल के छोटे छोटे परमाणुओं में भी जीव हैं। अन्य बातों में जैन लोग बौद्धों की नाईं वेद को नहीं मानते, वे कर्म्म और निर्वाण के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं और आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

वे पच्चीस तीर्थंकरों में भी विश्वास करते हैं जैसे कि प्राचीन बौद्ध लोग यह विश्वास करते थे कि गौतम बुद्ध के पहिले २४ अन्य बुद्ध हो गए हैं।

जैनियों के पवित्र ग्रन्थों अर्थात् आगमों के सात भाग हैं जिनमें अंग सब से प्रधान भाग है। अंग सात हैं जिनमें आचारांगसूत्र का जिसमें जैन संन्यासियों के आचरण के नियम दिए हैं, अनुवाद डाक्टर जेकोबी साहब ने किया है और उपासक दशा का, जिसमें जैन उपासकों के आचरण के नियम हैं, अनुवाद डाक्टर हार्नली साहब ने किया है।

अब हम अपने पाठकों के सम्मुख आचारांगसूत्र से महावीर के जीवनचरित्र के कुछ अंश उद्धृत करेंगे। इस ग्रन्थ के विद्वान अनुवादक हर्मनजेकोबी साहब ने इस ग्रन्थ का समय ईसा के पहिले तीसरी वा चौथी शताब्दी में निश्चय किया है परन्तु ग्रन्थ की अलङ्कारयुक्त तथा बनावटी भाषा से बहुत से पाठक लोग उसे ईसा के कई शताब्दियों के उपरान्त का विचार करेंगे। समस्त ग्रन्थ गौतम के जीवनचरित्र के सीधे सुन्दर वर्णन के बहुत दूरस्थ और बहुत बिगड़े हुए अनरूप की नाईं है।

"जब क्षत्रियानी त्रिसला ने इन चौदहों श्रेष्ठ स्वप्नों को देखा तो वह जाग कर प्रसन्न, हर्षित और आनन्दित हुई, अपने पलङ्ग से उठी और चौकी से उतरी। न तो शीघ्रता में और न कांपती हुई, राज हंसिनी की नाईं शीघ्र और समान चाल से वह क्षत्रिय सिद्धार्थ के पलङ्ग के पास गई। वहां उसने क्षत्रिय सिद्धार्थ को जगाया और उससे नम्र, मनोहर प्रीतियुक्त, मृदु, आनन्ददायी, सुन्दर, शुभ, कल्याणमय, मङ्गलदायक, सुखी, हृदयग्राही, हृदय को सुख देनेवाले, तुले हुए, मीठे और कोमल शब्दों में कहा.....हे, स्वामी देवताओं के प्रियपात्र, मैं अभी अपने पलङ्ग पर थी...और चौदह स्वप्नों को, अर्थात् एक हाथी इत्यादि को देखकर जाग उठी। हे स्वामी इन चौदहों श्रेष्ठ स्वप्नों का क्या आनन्ददायक फल विशेष रूप से होगा? ...उसने अपनी स्वाभाविक बुद्धि और अन्तर्ज्ञान के विचार के साथ इन स्वप्नों का अर्थ समझ लिया और क्षत्रियानी त्रिसला से नम्र, मनोहर, इत्यादि शब्दों में यों कहा 'हे देवताओं की प्रियपात्र तुमने श्रीमान स्वप्न देखे हैं...तुम्हें एक मनोहर सुन्दर बालक उत्पन्न होगा जो कि हमारे वंश की पताका, हमारे वंश का दीपक, हमारे

वंश का सिरमौर, हमारे वंश का आभूषण, हमारे वंश को प्रतापी बनानेवाला, हमारे वंश का सूर्य्य, हमारे वंश का सहारा, हमारे वंश को आनन्द और यश देनेवाला, हमारे वंश का वृक्ष, हमारे वंश को उच्च बनानेवाला होगा...... ।

"बहुत से सर्दारों, राज्याधिकारियों, राजाओं, राजकुमारों, वीरों, घर के मुखियों, मंत्रियों, प्रधान मंत्रियों; ज्योतिषियों, नौकरों भृत्यकों, नगरवासियों व्यापारियों, सौदागरों के नायकों, सेनापतियों, यात्रियों के नायकों, और सीमा रक्षकों के बीच में वह मनुष्यों के सर्दार और स्वामी की नाईं मनुष्यों के बीच सांड़ और सिंह की नाईं श्रेष्ठ प्रताप और यश से चमकता हुआ देखने में प्रिय, उस चन्द्रमा की नाईं जो कि नक्षत्रों और चमकते हुए तारों के बीच श्वेत बादलों में से निकलता है, उसने स्नान के गृह में से सभा-भवन में प्रवेश किया और पूरब की ओर मुंह कर के अपने सिंहासन पर बैठा...' हे देवताओं के प्रिय उन स्वप्नों का फल बतलानेवालों को शीघ्र बतलाओ जो कि लक्षणों के फल की विद्या में उसकी आठों शाखाओं के सहित भली भांति निपुण हैं और उसके अतिरिक्त बहुत से अन्य शास्त्रों में निपुण हैं ! जब कि स्वप्नों का फल बतलानेवालों ने क्षत्रिय सिद्धार्थ का यह समाचार सुना तो उन्होंने प्रसन्न हर्षित और आनन्दित इत्यादि हो कर स्वप्नों को अपने मन में स्थिर किया । वे उन पर विचार करने और परस्पर बात करने लगे.........

"जिस रात्रि को पूज्य महावीर ने जन्म लिया उसमें देवताओं और देवियों के नीचे उतरने और ऊपर चढ़ने के कारण बड़ा दैवी प्रकाश हुआ और सृष्टि में प्रकाश से चमकते हुए देवताओं के समूह से बड़ा हलचल और शब्द हुआ.........पूज्य महावीर ने गृहस्थ आश्रम ग्रहण करने के पहिले (अर्थात् अपने विवाह के पहिले) प्रधान अपरिमित और अकुंठित ज्ञान और अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया था । पूज्य महावीर ने अपने इस प्रधान अपरिमित ज्ञान और अन्तर्ज्ञान के द्वारा देखा कि उसके त्याग का समय निकट आ गया था । उसने अपनी चाँदी, अपना स्वर्ण, अपना धन, धान्य, पदवी, राज्य, सेना, अन्न, कोश, भण्डार, नगर, स्त्रीगृह, को त्याग दिया, उसने अपनी यथार्थ अमूल्य संपत्ति का यथा धन, स्वर्ण, रत्न, मणि, मोती, शङ्ख, पत्थर, मूंगे, लाल, इत्यादि का त्याग कर

दिया, उसने योग्य मनुष्यों के द्वारा धन बंटवाया। उसने दरिद्र मनुष्यों में धन बंटवाया।......पूज्य महावीर ने एक वर्ष और एक महीने तक वस्त्र पहिने उसके उपरान्त वह नंगा फिरने लगा और अपनी अंजुली में भिक्षा लेने लगा। बारह वर्ष से अधिक समय तक पूज्य महावीर ने अपने शरीर की कोई सुध नहीं ली। वह धीरता के साथ सब दैविक, मानुषिक वा पशुओं के द्वारा की हुई सुघटनाओं और दुर्घटनाओं को सहन करता रहा......तेरहवें वर्ष, ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास में, चौथे पक्ष में, वैशाख के शुक्ल पक्ष में दसवें दिन जब कि छाया पूरब की ओर फिर गई थी और पहिला आगरण समाप्त हो गया था अर्थात् सुव्रत के दिन विजय मुहूर्त में ऋजुपालिका नदी के तट पर जिम्भिकग्राम के बाहर एक पुराने मन्दिर के निकट, सामाग गृहस्थ के खेत में, एक साल वृक्ष के नीचे, जिस समय कि चन्द्रमा का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से संयोग था दोनों एड़ियों को मिला कर उकडूं बैठे हुए धूप में ढाई दिन तक निर्जल व्रत रह कर गहरे ध्यान में मग्न रह कर उस सर्वोच्च ज्ञान और अन्तर्ज्ञान अर्थात् कैवल्य को उसने प्राप्त किया जो कि अपरिमित, प्रधान, अकुंठित पूरा और सम्पूर्ण है...........

"उस काल में, उस समय में पहिली वर्षा ऋतु में अस्थिक ग्राम में वह ठहरा, तीन बरसातों तक चम्पा और पृष्टिचम्पा में ठहरा, बारह बरसातों तक वैशाली और वणिज ग्राम में, चौदह बरसातों तक राजगृह में और नालंद के आस पास, ६ बरसातों तक मिथिला में, दो बरसातों तक भद्रिका में, एक अलभिका में, एक पणित भूमि में, एक श्रावस्ती में, एक पापा नगर में हस्तिपाल राजा के लेखकों के कार्यालय में और यही उसकी अन्तिम बरसात थी। उस वर्षा-ऋतु के चौथे मास में, सातवें पक्ष में, कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अमावस्या को इस पक्ष की अन्तिम रात्रि में पापा नगर में हस्तिपाल राजा के लेखकों के कार्यालय में पूज्य महावीर की मृत्यु हुई, वह चला गया, उसने संसार को छोड़ दिया, जन्म वृद्धावस्था और मृत्यु के बंधनों को काट डाला, वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, (सब दुःखों का) नाश करने वाला, सदा के लिये स्वतन्त्र, सब दुःखों से रहित हो गया।"

उपासक दशा में जैसा कि उसके नाम से विदित होता है जैन उपासकों के धर्मों का दस उपदेशों में उल्लेख है। पहिले

उपदेश में उनके प्रतिज्ञाओं और आचारों का वर्णन है जिनके अनुसार उपासक को चलना चाहिए, इसके उपरान्त के चार उपदेशों में बाहरी क्लेशों से जो भिन्न भिन्न प्रकार की भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, छठें उपदेश में भीतरी संदेह से और विशेष कर दूसरे गोशाल के आजीवकों की नाईं दूसरे धर्मों के विरोध से जिन भावनाओं की उत्पत्ति होती है उनका वर्णन है, सातवें उपदेश में जैन धर्म की श्रेष्ठता दिखाई गई है, आठवें में इन्द्रियों के सुख की भावनाओं का वर्णन है, और नवें और दसें उपदेशों में सच्चे जैन उपासक के शान्तिमय जीवन के उदाहरण दिये हैं।

डाक्टर हार्नली साहब ने जो इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है उसमें से कुछ वाक्य उद्धृत करने में स्थानाभाव से हम असमर्थ हैं परन्तु हम उस अंश की कुछ बातों की आलोचना करेंगे जिसमें कि आनन्द की बात चीत का वर्णन है क्योंकि उसमें बहुत सी ऐसे सुख की वस्तुओं का उल्लेख है जिनमें कि प्राचीन समय के हिन्दू गृहस्थ लोग संतोष के साथ लिप्त रहते थे और जो हम लोगों के लिये मनोरञ्जक होगी। आनन्द संन्यासी नहीं हुआ था परन्तु वह केवल जैन उपासक था अतएव उसने संन्यासियों के महाव्रतों की अपेक्षा केवल पांच छोटे व्रतों को ग्रहण किया था।

आनन्द ने सब प्राणियों के दुःख देने, असत्यभाषण और चोरी का त्याग किया था। उसने केवल एक पत्नी से यह कह कर संतोष किया था कि "केवल एक स्त्री अर्थात् अपनी पत्नी शिवनन्दा को छोड़ कर मैं सब प्रकार की स्त्री के संसर्ग का त्याग करता हूं।" उसने अपने धन की सीमा चार करोड़ स्वर्ण मुद्रा को एक रक्षित स्थान में रख कर, चार करोड़ अंश की मुद्रा को ब्याज पर लगा कर और चार करोड़ रकमें की मुद्रा को तत्काल रख कर बांधी थी। इसी प्रकार उसने पशुओं के चार झुण्ड, जिसमें प्रत्येक झुण्ड में दस हज़ार पशु हैं, पांच सौ हल और प्रत्येक हल के लिये १०० निवर्तन भूमि, विदेशी व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अपने देश के व्यापार के लिये ५०० छकड़े और अन्त में विदेशी व्यापार के लिये ४ नौकाएं और देश के व्यापार के लिये चार नौकाएं रखने की सीमा बांधी है। उपरोक्त वृत्तान्त से हमें प्राचीन समय के हिन्दू ग्वाला, किसान, महाजन

और व्यापारी अर्थात् सेठ का, जो कि भारतवर्ष में सदा से रहे हैं ठीक ज्ञान होता है। अब हम गृहस्थी की और विलास की वस्तुओं का वर्णन करेंगे, आनन्द ने अपने स्नान के लिये एक लाल रङ्ग का अँगौछा, दाँत साफ करने के लिये एक प्रकार की हरी दतुवन, एक प्रकार का फल, आमलक का दूध के सदृश गूदा, लगाने के लिये दो प्रकार के तेल, एक प्रकार का सुगन्धित चूर्ण, धोने के लिये आठ घड़ा जल, एक प्रकार का वस्त्र अर्थात् रुई के कपड़ों का एक जोड़ा, मुसव्वर, केशर, चन्दन और इसी प्रकार की वस्तुओं की बनी हुई सुगन्धि, एक प्रकार का फूल अर्थात् सफेद कमल, दो प्रकार के आभूषण अर्थात् कान का आभूषण और उसके नाम की खुदी हुई अंगूठी और कुछ प्रकार के धूप से अपने को परिमित किया है।

भोजन के विषय में उसने चावल और दाल के रसेदार पदार्थ, घी में भूने हुए और चीनी मिलाए हुए खाजेसे अपनेको परिमित किया है। उसने भिन्न प्रकार के बोए हुए चावलों के भात, कलई, मूंग या मांस की दाल, शरद्‌ऋतु में गाय के दूध की घी के कई प्रकार के रसदार पदार्थ, पालंग की बनी हुई एक प्रकार की मदिरा, सादी चटनियां, पीने के लिये वर्षा का जल और अन्त में पांच प्रकार के पान से अपने को परिमित किया है। हमारे बहुत से पाठक लोग यह विचार करेंगे कि हमारा मित्र आनन्द अपनी इतनी सम्पत्ति और इतने भारी व्यापार और काम की तथा भोग विलास की इतनी सामग्रियों के साथ कुछ बुरी दशा में नहीं था।

इति।